जीवन व संगठन बोध

लेखिका
डॉ० सुमन

संगठन का ध्येय

1. **देवत्व की विजय–** सभी विश्वबन्धुत्व, सह-अस्तित्व एवं एकत्व के संकल्प के साथ संगठित होकर बाहर एवं भीतर के असुरत्व एवं आसुरी शक्तियों पर विजय पायें। स्वयं पूर्णसुखमय, पूर्णसम्मृद्धिमय एवं पूर्णशान्तिमय जीवन जीयें तथा समष्टि में सुख, समृद्धि, शान्ति, सत्य, धर्म एवं न्याय को प्रतिष्ठापित करके **इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तोऽअराव्णः।** (ऋग्वेद-9.63.5) इस वेद आज्ञा को चरितार्थ करें। **मा वः स्तेन ईशत।** (यजुर्वेद-1.1)। बाह्य रूप से तथा आन्तरिक रूप से भी हम पर आसुरी शक्तियों का साम्राज्य या शासन नहीं होना चाहिए।

2. **हम सभी श्रेष्ठ व दिव्य हैं, इस सत्य की स्थापना** – मैं और मेरा मजहब, मेरा समूह व मेरी विचारधारा ही सत्य व सर्वश्रेष्ठ है तथा इसी से संसार का कल्याण होगा, यह विचार संसार के लिए सबसे घातक व विध्वंसक है। इसके स्थान पर सभी मनुष्य श्रेष्ठ तथा दिव्य हैं तथा सभी आत्माओं में परमेश्वर ने सत्यज्ञान, सत्य संवेदनाएँ, सत्य प्रेरणाएँ एवं सत्य आचरण के मूलभाव की प्रतिष्ठा की है।

   दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
   अश्रद्धामनृतेऽदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः। (यजुर्वेद-19.77)

   अतः सब सत्यनिष्ठ एवं न्यायनिष्ठ होकर तथा आन्तरिक सत्यज्ञान एवं सत्य प्रेरणाओं से युक्त होकर जीवन में सत्याचरण या न्यायपूर्ण आचरण करते हुए, पूर्ण पुरुषार्थ करते हुए जीवन में पूर्णता व दिव्यता को प्राप्त करें तथा मजहबी संकीर्णता व संघर्ष से छूटते हुए राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, चिकित्सकीय, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय व वैश्विक संकीर्णताओं एवं संघर्षों से बाहर निकलकर **'वसुधैव कुटुम्बकम्' 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'** के दिव्य या ईश्वरीय विधान के अनुरूप जीवन जीयें।

3. **अपरा व पराविद्या से परिपूर्ण दिव्य जीवन की प्राप्ति करना व कराना–** केवल भौतिक उन्नति एवं केवल आध्यात्मिक उन्नति की बात करना जीवन की अपूर्णता है। ईशोपनिषद् के अनुसार- **अविद्यया मृत्युं तीर्त्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते'।** अत: प्रत्येक व्यक्ति एवं सम्पूर्ण मानव जाति को बाहर एवं भीतर से पूर्ण उन्नत सभ्य एवं विकसित बनाना और सर्वत्र भगवान् के दिव्य विधान या भगवान् के साम्राज्य की स्थापना करना। न कोई राजनैतिक उन्माद, न ही कोई मजहबी उन्माद, न पूंजीवाद व साम्राज्यवाद, न ही कोई आतंकवाद हो, अपितु चारों ओर आध्यात्मिक न्यायवाद हो, यही एकमात्र हमारे इस संगठन का दिव्य ध्येय या लक्ष्य है। इसी की प्राप्ति हेतु समृद्ध आध्यात्मिक जीवन एवं समृद्ध आध्यात्मिक विश्व की स्थापना हेतु हम सबको पूर्ण संगठित होकर पूर्ण पुरुषार्थ-परमार्थ, योग-यज्ञ, योग-कर्मयोग, साधना एवं सेवा में नि:स्वार्थ निष्काम भाव से स्वयं समर्पित करना होगा।

जीवन की सबसे बड़ी प्रेरणा

मैं भगवान् की दिव्य सन्तान हूँ। मेरा जीवन भगवान् के विधान के अनुरूप ही रहेगा। मैं भगवान् का प्रतिनिधि, प्रतिरूप या मूर्त्त रूप हूँ। मैं ऋषि-ऋषिकाओं एवं वीर-वीराङ्गनाओं की दिव्य वीर सन्तान हूँ। मैं उन्हीं का वर्तमान या मूर्त्त रूप हूँ। मैं स्वयं ऋषि-ऋषिका हूँ, मेरा ज्ञान, जीवन, पुरुषार्थ व परमार्थ या समग्र आचरण ऋषियों जैसा ही रहेगा। यह विचार या संकल्प हमारे प्रत्येक योगी भाई-बहन को प्रतिदिन उठते ही अवश्य करना है। इसी से उच्च चेतना में जीने का अभ्यास प्रारम्भ हो जायेगा।

योग हमारा स्वभाव बन जाये

एक योग से हमारे स्वास्थ्य, सुख, समृद्धि, सौभाग्य, समाधि एवं मुक्ति के द्वार खुल जाते हैं। योग का ज्ञान, योग का अभ्यास एवं योग का आचरण करते हुए हम जीवन में सब प्रकार की दिव्यता व पूर्णता को

अनुभव कर लेते हैं। अतः योग हमारा स्वभाव बन जाये, इसीलिए हम स्वयं प्रतिदिन योग करें एवं सबको योग करायें। बस एक यही हमारा सबसे बड़ा ध्येय होना चाहिए। योग के सिद्ध होने पर बीमारी, बुराई, तनाव, दुःख, दर्द एवं अन्य सभी प्रकार के अभावों से मुक्त पूर्ण सुखी व सात्विक दिव्य आध्यात्मिक जीवन हमें प्राप्त हो ही जायेगा।

छोटे-छोटे गुणों से बनता है महान् एवं आदर्श जीवन

जीवन धैर्य-उत्साह, पराक्रम, विनयशीलता, सत्यनिष्ठा, गुरु-शास्त्र, वेद-धर्म-न्याय एवं सदाचार के प्रति अखण्ड निष्ठा, प्रचण्ड पुरुषार्थ, विवेकवती बुद्धि, हरपल ग्रहणशीलता, संवदेनशीलता, प्रेम, करुणा, वात्सल्य, दया, क्षमा, सहानुभूति एवं कृतज्ञता से भरा हृदय तथा जितेन्द्रियता, उदारता, निःस्वार्थता, अलोलुपता एवं वाक्माधुर्य आदि दिव्य गुणों से भरा हुआ होना चाहिए। सभी योगी भाई-बहनों एवं जवानों का जीवन आलस्य, प्रमाद, राग, द्वेष, हठ, दुराग्रह, स्वार्थपरता, संकीर्णताओं, दुर्व्यसनों, अन्धविश्वासों, रुढ़ियों-अज्ञान एवं अज्ञानजनित अहंकारादि समस्त दोषों व अशुभ से दूर रहना चाहिए। एक क्षण के लिए किसी भी अशुभ का स्वागत नहीं करना चाहिए तथा वेद, शास्त्र, ऋषि-आप्त पुरुषों एवं गुरुओं या आत्मा के प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिए। विधि-निषेध की जो मर्यादा है उसका पूरा पालन करना चाहिए। भगवान् के विधान या कानून, समाज के कानून, तथा देश के संविधान व कानून का पालन करना चाहिए। भगवान् की कर्मफल व्यवस्था, न्याय व्यवस्था तथा दृष्ट-अदृष्ट सत्यों एवं पूर्वजन्म पुनर्जन्म, आत्मा व परमात्मा के अस्तित्व आदि आध्यात्मिक सत्यों के प्रति तर्क, तथ्य, युक्ति एवं प्रमाणादि पूर्वक पूर्ण विश्वास करना चाहिए। जीवन एवं जगत् के प्रति वैज्ञानिक व्यावहारिक, सार्वभौमिक एवं पंथनिर्पेक्ष दृष्टिकोण होना चाहिए। स्थूल दोषों को अत्यन्त प्रयत्न व पुरुषार्थ पूर्वक दूर रहना चाहिए तथा धीरे-धीरे सूक्ष्म दोषों को भी दूर करके एक दिव्य जीवन एवं आचरण की पूर्ण शुचिता रखनी चाहिए।

स्वभाव में दिव्य रूपान्तर कैसे लायें?

बुरा विचार, बुराकाम, अशुभवाणी, व्यवहार या आचरण इच्छा होने पर भी न करें तथा अच्छा या शुभ विचार, शुभ काम, वाणी, व्यवहार या आचरण इच्छा न होने पर भी करें। कुछ ही दिनों में हमारा स्वभाव दिव्य श्रेष्ठ या आध्यात्मिक हो जायेगा। **स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।** (गीता-8.3)।

युवा ऊर्जा से दिव्य सृजन करें

मनुष्य की ऊर्जा को यदि सृजनात्मक दिव्य कार्यों में नियोजित (चैन लाईज) नहीं किया जायेगा, तो वह विध्वंसक दिशा में बहने लगती है। अतः समाज, राष्ट्र व विश्व के बड़े व जिम्मेदार नागरिकों व आदर्श महापुरुषों का यह दिव्य उत्तरदायित्व है कि वे विद्यार्थियों व युवाओं की ऊर्जा को सही दिशा में लगाकर समष्टि में दिव्य प्रवृत्ति को बढ़ायें, क्योंकि अकर्मण्यता व अशुभ प्रवृत्ति से असुरत्व बढ़ेगा। **अकर्मा दस्युः, प्रमादो मृत्युः।**

पतंजलि क्या है?

पतंजलि योगपीठ सबका अभ्युदय व निःश्रेयस, सबकी आर्थिक व आध्यात्मिक उन्नति, सबकी सेवा, सबकी शिक्षा, सबके स्वास्थ्य एवं विश्वशान्ति के लिए समर्पित संस्थान है। पतंजलि वर्ल्ड क्लास क्वालिटी, लो प्राइस व प्रोफिट से 100% चौरिटि करने वाला आर्थिक आजादी के लिए संकल्पित निष्काम सेवा करने वाला पूर्ण स्वदेशी ब्रांड है।

पतंजलि योग एवं आध्यात्मविद्या को आधुनिकता के साथ लेकर चलने वाला ऋषि पतंजलि का नाम व काम है।

गुरुसत्ता की महिमा

भारतीय वैदिक परम्परा में गुरुसत्ता का स्थान मुकुटमणी के समान है। **"मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद"**-शतपथब्रह्मण (14,6, 10,2), छान्दोग्योपनिषद् (6,14,2)। **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथि देवो भव।** (तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली अनुवाक-11/2)

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (योगदर्शन-1.26),
आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः। (अथर्ववेद-11.5.14)
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। (मुण्डक-1.12), **"मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि"।** (अथर्ववेद 6.133.3)

उपर्युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रमाण वेद, दर्शन, व उपनिषदों में यत्र-तत्र उपलबध होते हैं।

भारतीय ऋषि परम्परा या अध्यात्म परम्परा, गुरु-शिष्य की बुनियाद पर ही टिकी हुई है। अथर्ववेद का ब्रह्मचर्य सूक्त, उपनिषदों में यम-नचिकेता, आरुणी-उद्दालक, सनत्कुमार-नारद, गीता में कृष्ण-अर्जुन संवाद, रामायण के गुरु वसिष्ठ, महाभारत के गुरु-द्रोणाचार्य व कृपाचार्य, देवों के गुरु बृहस्पति तथा असुरों के गुरु शुकाचार्य इसी गौरवशाली गुरु-शिष्य परम्परा का बोध कराते हैं।

अथर्ववेद में गुरु या आचार्य का सबसे प्रथम रूप मृत्यु कहा है। मृत्यु का अभिप्राय है, जो पुराने अज्ञान को, अविद्या को, बुरी आदतों को व बुरे स्वभाव को मार देता है। मानव स्वभाव की एक कमजोरी यह भी है कि जब कोई हमारे दोषों को बताता है तो वह व्यक्ति साक्षात् यम जैसा दिखाई पड़ता है लेकिन सच्चा गुरु अनन्त धैर्य व कुशलता के साथ इस दुरूह कार्य को इतनी आसनी से कर देता है कि जब हमारे वे दोष सर्वथा हट जाते हैं तो वे गुरु हमारे लिए 'वरुण' रूप बन जाते हैं और तब गुरु बहुत ही सौम्यमूर्ति प्रतीत होते हैं और चतुर्थ चरण में तो गुरु हमारे समस्त दुःख-दर्दों की दवा या औषध रूप बन जाते हैं तथा इससे अगले चरण में अपने दिव्यज्ञान, दिव्यकर्म, दिव्यप्रेम व दिव्यआचरण से वे हमारे लिए 'पयः' अर्थात् अमृत स्वरूप होकर हमें अमरता के मार्ग का पथिक बना देते हैं।

गुरुदर्शन– गुरु दर्शन का अभिप्राय है गुरु जैसा हो जाना। गुरु के ज्ञान, सिद्धान्त, लक्ष्य, कार्यपद्धति व सम्पूर्ण आचरण को आत्मसात् करके तद्रूप हो जाना अथवा उन जैसी दिव्य चेतना के साथ जीवन को जीना। यही उनका सच्चा दर्शन है।

गुरु दक्षिणा– तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है **"आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवछेत्सीः।"** अर्थात् अपने आचार्य के लिए प्रिय धन लाकर उसे देते रहना। आचार्य का सबसे प्रिय धन है- ब्रह्मचारी। इसलिए स्वयं शिक्षित, दीक्षित होकर गुरुकार्य को, उसके संकल्प को, मिशन को, यज्ञ को आगे बढ़ाते रहना तथा ऐसी ही प्रकृति वाले दूसरे ब्रह्मचारी भी गुरु के पास भेजते रहना ताकि यह पावनी गुरु-शिष्य परम्परा बनी रहे। गीता में गुरु दक्षिणा के रूप में अर्जुन ने कहा- **"करिष्ये वचनं तव"** अर्थात् अब आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि हो गई है, अब कोई सन्देह, भ्रम या भ्रान्ति मेरे मन में नहीं है, मेरा मन, बुद्धि सब स्थिर हो गए हैं। अब जैसा आप आदेश करेंगे मैं वैसा ही करूंगा। यही गुरुदक्षिणा है। इसी प्रकार महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, छत्रपति शिवाजी एकलव्य आदि का जीवन गुरुदक्षिणा के रूप में ही इस राष्ट्र को समर्पित हो गया।

हम सब अपनी-अपनी रुचि व सामर्थ्यानुसार पतंजलि योगपीठ हरिद्वार से जुड़े हैं। पतंजलि योगपीठ के बहुआयामी विस्तृत स्वरूप के परिचय से पूर्व हम यह जानने का प्रयास करें कि मूल रूप में पतंजलि योगपीठ क्या है? वास्तव में यह एक आध्यात्मिक संस्था है। इसका आधार क्या है? पतंजलि योगपीठ का मूल तत्व है सेवा, उस सेवा का माध्यम है-योग, आयुर्वेद एवं स्वदेशी, इस त्रिविध सेवा का शरीर है- **संगठन या संस्थान और उस संगठन एवं संस्थान रूपी शरीर के प्राण हैं आयुर्वेद शिरोमणि श्रद्धेय आचार्य श्री व इस** शरीर की आत्मा है- **एक शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक, सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक व यौगिक दिव्य भागवत शक्ति से सम्पन्न एक जागा हुआ संन्यासी। इस संस्थान का प्रारम्भ से लेकर आज तक तथा आगे भी मूल उद्देश्य है–मानवता व समष्टि की सेवा।** माध्यम है–संगठन और संस्थान तथा इस सबके पीछे दृष्ट शक्ति है-गुरु तथा अदृष्ट शक्ति है-भगवान्। अतः इस संगठन या संस्थान से जुड़ने से पूर्व इन तीन तत्वों का (सेवा, संगठन व गुरु की महिमा) बौद्धिक चिन्तन, मनन, ज्ञान

अवश्य ही कर लेना चाहिये, पारमार्थिक अर्थ तो सेवा करते-करते स्वतः ही हमारे समक्ष उपस्थित हो जायेगा।

श्रद्धेय स्वामी जी महाराज कहते हैं कि जीवन में जब हम किसी श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, समर्थ गुरु के पास जाते हैं तो हममें सेवा, निष्ठा का भाव जागृत होता है गुरु के प्रति निष्ठा व सेवा का भाव होने से संगठित होकर जीवन में सेवा और साधना करते हुए हम पूर्णता की ओर आगे बढ़ते हैं।

गुरुतत्त्व की महिमा–

गुरुतत्त्व के सन्दर्भ में तीन बातों पर हमारे सभी साधक भाई-बहनों को गंभीरता से विचार करके गुरु की शरणागति में ही आध्यात्मिक दिव्य जीवन जीने हेतु पूर्ण समर्पित या प्रतिबद्ध होना चाहिये।

1. अदृष्ट सत्य का दर्शयिता–

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ समर्थ गुरुसत्ता व ऋषि-परम्परा के आश्रय के बिना जीवन में नये आध्यात्मिक सत्य घटित नहीं हो सकते। क्योंकि आध्यात्मिक जीवन में दो तरह के सत्य होते हैं एक है- दृष्ट सत्य अर्थात् ईश्वर का ज्ञात, मूर्त्त, दृश्य, व्यक्त, प्रत्यक्ष तथा विश्वमय रूप का दर्शन तथा दूसरा है- अदृश्य, अज्ञात, अमूर्त्त, अव्यक्त, परोक्ष एवं विश्वातीत ब्रह्माण्ड की अनुभूति। यह सब एक ब्रह्मवेत्ता गुरु के सान्निध्य में ही हो सकता है।

2. दिव्य आलम्बन–

बिना सात्विक आलम्बन के आध्यात्मिक जीवन की यात्रा को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। आधार या आलम्बन के बिना दुनिया में किसी भी जड़ या चेतन तत्त्व का अस्तित्व नहीं है। सांसारिक जीवन हो या फिर आध्यात्मिक जीवन हमें कोई न कोई आश्रय, आधार, आलम्बन या सहारे की आवश्यकता होती ही है। आध्यात्मिक जीवन में भगवान् की प्राप्ति या भगवान् की अनुभूति के लिए प्रत्यक्ष गुरुसत्ता का आलम्बन ही एकमात्र मार्ग है।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

(मुण्डक.-1/12)

अर्थात् 'कृत' से 'कृत' ही पाया जा सकता है, जिसकी उत्पत्ति है और विनाश है, वही मिल सकता है। 'कृत' से 'अकृत' नहीं मिलता। ब्रह्म तो 'अकृत' है, उसकी उत्पत्ति नहीं, विनाश नहीं। 'अकृत' को 'अक्रतु' ही पा सकता है। **'तमक्रतुः पश्यति'।** उस 'अकृत' को जानने के लिए समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के चरणों में उपस्थित होना आवश्यक है। समित्पाणि का अभिप्राय है-हाथ में तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा रूपी तीन समिधाएँ लेकर गुरु के पास शिष्य जाये। गुरु अग्नि स्वरूप है और शिष्य उस ज्ञानाग्नि रूप गुरु में स्वयं को समर्पित करके तद्रूप होना चाहता है, अग्नि स्वरूप, ज्ञान स्वरूप, गुरु स्वरूप, गुरु का प्रतिरूप होना चाहता है।

3. शाश्वत का प्रतिनिधि-

हम वैज्ञानिक प्रत्यक्ष दृष्ट या मूर्त्त प्रमाणों से भगवान् का अस्तित्व सिद्ध नहीं कर सकते। आत्मकार्य, सिद्धान्त, सृष्टि चक्र, विज्ञान, कर्मफल व न्याय व्यवस्था सिद्धान्त आदि के आधार पर हम भगवान् का अस्तित्व मानते हैं। **कारणाभावात् कार्याभावः** (वैशे. 1/32)। अर्थात् कारण के अभाव से कार्य का अभाव हो जाता है जैसे धागे के अभाव में वस्त्र का अभाव तथा मिट्टी के अभाव में घड़े का अभाव दिखाई देता है। मिट्टी कारण है, घड़ा कार्य है। इसी प्रकार यह संसार कार्य है और भगवान् इसका निमित्त कारण है। इसलिए संसार को देखकर इसके बनाने वाले ईश्वर का अनुमान तो होता है। परन्तु वह कैसा है, इसका ज्ञान तो केवल कोई समर्थ गुरु ही करा सकता है। मूलतः ब्रह्म एक अदृष्ट परम सत्य या परमसत्ता है। गुरु भगवान् की दिव्यता से अभिभूत ईश्वरीय ज्ञान, ईश्वरीय संवेदना व ईश्वरीय शक्ति के मूर्तरूप होते हैं। उनमें साधना व सेवा के द्वारा ईश्वरीय दिव्यता अवतरित हो जाती है इस ईश्वरीय सत्ता या शाश्वत के प्रतिनिधि या प्रतिरूप या मूर्त्तरूप होते हैं 'गुरु'। ऐसे समर्थ गुरुसत्ता या

आप्त पुरुषों का पावन सान्निध्य, सत्संग, मार्गदर्शन व शरणागति ही हमारे जीवन का परमसौभाग्य व परमकल्याण है।

4. दिव्य रूपान्तरण का कर्ता–

गुरु की महिमा को समझना यद्यपि भगवान् की महिमा को समझने जैसा है परन्तु फिर भी यथाशक्ति ग्रहणशीलता का प्रयास तो किया ही जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति अपने जीवन का समस्त आमूल-चूल दिव्य रूपान्तरण करना चाहता है, तो उसका एकमात्र आधार गुरु ही है। गुरुतत्व वह है जो हमारी आन्तरिक मूर्छा को तोड़कर हमें जगा दे, स्वयं से परिचय करा दे और अन्त में अपने जैसा बना दें। गुरु उस पारस के समान नहीं है जो लोहे को सोना बना दें, अपितु वह तो उस भृंगी कीट की भाँति है जो भिन्न-भिन्न जाति के कीड़ों को अपने मिट्टी के घर में बन्द करके एक निश्चित अवधि के बाद उन्हें अपने ही स्वरूप वाला बनाकर बाहर निकालता है, तब तक बाहर की बाकी सब आवाजें बंद करके उसे एक ही आवाज सुनाता है कि तू भृंगी है। हमारे दोषों के दर्शन तो अनेक लोग उंगली उठाकर करते-कराते रहते हैं, परन्तु उनके उन आरोपों या दोषारोपण से कोई परिवर्तन जीवन में नहीं आ पाता है, जबकि पूज्य आचार्य श्री व श्रद्धेय स्वामी जी महाराज की कृपा से करोड़ों लोगों के जीवन में भिन्न-भिन्न प्रकार के दिव्य परिवर्तन घटित हुए हैं। कई बार हम गुरु को ही नसीहत या सुझाव देने लगते हैं कि स्वामी जी देश में कुछ ऐसे भी लोग हैं जो दूर-दराज गाँवों में रहते हैं, गरीब हैं, ज्यादा पढ़े-लिखे भी नहीं हैं, रोगी होने पर इलाज भी नहीं करा पाते, हमें उनके बारे में भी कुछ सोचना चाहिये। फिर स्वामी जी उत्तर देते हैं कि इस महान् कार्य को सम्पन्न करने के लिए ही मैंने तुम्हारा चयन किया है।

5. अनन्त धैर्य, प्रेम व करुणा के अवतार–

गुरु के बारे में श्री अरविन्द लिखते हैं कि गुरु में माँ के समान अनन्त करुणा व प्रेम तथा पिता के समान अनन्त धैर्य होता है और इस रूप का दर्शन हमने अपने गुरुदेव श्रद्धेय स्वामी जी महाराज में किया है। अतः

भगवान् की अहैतुकी कृपा से ऐसा गुरु हमारे पास हैं। स्वयं भगवान् और गुरु आपके शरीर के माध्यम से एक बड़ी दिव्य अभिव्यक्ति करना चाहते हैं। क्या आप उन्हें वैसा करने देंगे? यदि हाँ, तो आपको अपने भाव, विचार, वाणी और क्रिया में एकरूपता लाते हुए सेवा, संगठन, संस्थान व गुरु की महिमा को जानते हुए निर्भय तथा निर्द्वन्द्व होकर पतंजलि योगपीठ से जुड़ जाना चाहिये। जब कभी चेतना का स्तर नीचे की ओर जाने लगे तो आपको दृढ़तापूर्वक यह संकल्प दोहराना चाहिये कि **"मैं अपने भगवान् और गुरु की अमानत हूँ और कोई भी अशुभ मुझे छू नहीं सकता है"** जब व्यक्ति गुरु के प्रति खुला हुआ या ग्रहणशील होता है तब गुरु कृपा उसके अन्दर तुरन्त प्रवेश कर जाती है और ऐसे चमत्कार घटित होते हैं कि वर्षों का कार्य कुछ दिनों में तथा कभी-कभी तो कुछ घंटों में भी सम्पन्न हो जाता है। व्यक्ति को लगता है कि मेरे जीवन में तो हँसते-खेलते सहज रूप से दिव्य रूपान्तरण घटित हो रहा है।

सेवा की महिमा

सेवा का स्वरुप–

"सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।" यद्यपि यह सेवा तत्त्व इतना गहन व गम्भीर है कि योगियों को भी यह बहुत कठिनता से ही समझ में आता है फिर भी इस तत्त्व के बारे में चिन्तन करना अत्यावश्यक है। सेवा से अभिप्राय है जब हम अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आर्थिक, वाचिक या आत्मिक आदि किसी भी प्रकार की शक्ति को बिना किसी स्वार्थ के, आत्म संतुष्टि हेतु दूसरों के हित के लिए खर्च करते हैं, यह सेवा है। **श्रद्धेय स्वामी सोमानन्द जी** महाराज के शब्दों में-अपनी ही इच्छा से दूसरे के दुःखों को गले से लगाना ही सेवा है। सेवा की कभी कीमत नहीं आंकी जा सकती है क्योंकि सेवा अमूल्य होती है। सेवा वह द्वार है जिसमें से प्रवेश करके हम सहज ही उस आनन्द तक पहुँच जाते हैं, जहाँ योगियों का बड़ी-बड़ी तपस्याएं करके पहुँचना सम्भव है। जो शक्ति, सामर्थ्य व आनन्द किसी स्वामी (मालिक) को अत्यन्त अथक

पुरुषार्थ करके प्राप्त हो पाता है, वह एक सेवक को सहज ही उपलब्ध हो जाता है।

1. तीन प्रकार की सेवा–

तामसिक, राजसिक व सात्विक रूप में सेवा तीन प्रकार की होती है। योग और अध्यात्म के माध्यम से की जाने वाली सेवा सात्त्विक सेवा है। सात्त्विक वैचारिक सेवा के रूप में हमारे पूर्वज, ऋषि-मुनि-योगी प्रतिदिन प्रार्थना किया करते थे-**"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्"** क्योंकि जिस प्रकार का हम चिन्तन, विचार करते हैं, उसी प्रकार की शक्तियों को हम इस धरती पर आकर्षित व अवतरित करने का आह्वान करते हैं। सेवा और कर्म में प्रकाश और अंधकार जैसा अंतर है। **एक तरफ सामान्य कर्म हमारे बन्धन का कारण है, तो दूसरी तरफ दिव्य कर्म या सेवा हमारी मुक्ति का द्वार है।** आप अपने घर में झाड़ू लगाते हैं और एक मंदिर में जाकर लगाते हैं, एक मकान अपने घर में बनाते हैं और दूसरा किसी मंदिर, आश्रम, स्कूल या धर्मशाला में बनवाते हैं, दोनों का अनुभव (Feeling) अलग होता है, यद्यपि जागरूक न रहें, तो वहाँ भी अहंकार, स्वार्थपरता, एषणा आदि का प्रवेश सेवा को नष्ट कर सकता है।

2. अनन्त सुख, समृद्धि, सौभाग्य का आधार सेवाः

प्रत्येक व्यक्ति को दिन भर में कम से कम एक-दो घण्टे तो ऐसे सार्थक सृजनात्मक व लोक हितकारी कर्म अवश्य करने चाहियें जिनमें उनको सांसारिक दृष्टि से कोई फल मिलने की आशा नहीं है, परन्तु यह है बहुत आवश्यक,क्योंकि यही निःस्वार्थ सेवा हमारे इस जीवन के अदृष्ट सौभाग्य अर्थात् यह सेवा अनन्त गुणा होकर हमारे वैयक्तिक, पारिवारिक, व्यावसायिक व आध्यात्मिक जीवन में सुख, समृद्धि, सफलता व शान्ति का कारण बनती है तथा पुनर्जन्म में भी हमारे साथ जाती है। पैसा तो इस जीवन का यहीं रह जाता है, सेवारूपी पुण्य ही हमारे पुनर्जन्म के माता, पिता, कुल, गुरु, सफलता व समृद्धि का कारण बनती

है। इसे ही समाज व शास्त्र में श्रेष्ठ प्रारब्ध या ऊँची किस्मत या भाग्य भी कहते हैं। सच्चा सेवा तत्त्व इस धरती पर भगवान् का वरदान है। परम सौभाग्यशाली हैं वे लोग, जिन्हें यह अनमोल तत्त्व रत्न उपलब्ध हो गया है।

सेवा का फल–

(क) बाह्य फल- (योग एवं सेवा का फल क्या है) इसका इस संसार में सबसे बड़ा उदाहरण है पतंजलि योगपीठ, पूज्य आचार्य श्री व श्रद्धेय स्वामी जी का जीवन। पतंजलि की सामाजिक, आर्थिक व आध्यात्मिक सफलता व समृद्धि का राज पूज्य आचार्य श्री व श्रद्धेय स्वामी जी महाराज के पुण्यों से प्रकाशित दिव्य जीवन ही है। जिसमें इस भौतिक व आध्यात्मिक जीवन की समृद्धि व सफलता का एक आदर्श रूप दिखता है, यह सब योग ध्यान, भगवान् की भक्ति, उपासना एवं सेवा का ही तो प्रत्यक्ष फल है।

(ख) आन्तरिक फल– जिस प्रकार अन्नादि आहार शरीर की पुष्टि एवं तृप्ति के कारण बनते हैं, उसी प्रकार सेवा हमारे आन्तरिक अस्तित्व, मन-बुद्धि, प्राण, हृदय व आत्मा की पुष्टि, तृप्ति व उत्कर्ष का कारण बनती है। एक सच्चे सेवक को अतिरिक्त साधन की आवश्यकता नहीं होती। हमारे आन्तरिक अस्तित्व की शुद्धि एवं पवित्रता अहंकार, राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि दोषों के नाश का कारण बनती हैं, क्योंकि सेवा करते समय व्यक्ति को विविध प्रकार के लोगों के बीच, विविध संस्कारों, मान्यताओं, रुचियों व धारणाओं वाले व्यक्तियों के बीच रहना पड़ता है। वे अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थियाँ हमारे द्वन्द्वों की नाशक तथा द्वन्द्व सहन कर तपस्या करवाने की कारण बन जाती हैं। जागरूक सेवक व्यक्ति प्रत्येक घटना या परिस्थिति को भगवान् का उपहार समझकर स्वीकार करता है तथा उस उपहार को भगवान् का अनुग्रह कृपा सन्देश समझकर जीवन में आगे बढ़ जाता है। श्रद्धेय स्वामी सोमानन्द जी महाराज कहा करते थे- सेवक को ना कहने का अधिकार नहीं होता है। वे कहते थे- 'सेवक तो कोई बिरला है, जो आठों पहर रहे जाग'।

अत: जिन आत्माओं को आगे जन्म-मरण का कारण तैयार नहीं करना, कोई कर्माशय नहीं बनाना अपितु जीवन्-मुक्त होकर जीने की इच्छा है, या फिर भगवान् ने उनको मोक्षाधिकारी के रूप में चुन लिया है; केवल वही आत्माएँ इस सेवा तत्त्व का, सेवाकर्म का चयन करती हैं।

सेवा के आदर्श–

(क) समष्टिगत दैवी शक्तियाँ– प्रकृति में धरतीमाता, सूर्य, चन्द्रमा, वायु आदि दिव्य शक्तियाँ हमारे लिए सेवा के आदर्श हैं, क्योंकि इस सृष्टि में जो कुछ भी सृजन या क्रिया हो रही है, उसके मूल आधार ये दिव्य शक्तियाँ ही हैं। इनके अभाव में कोई भी कर्म होना सम्भव नहीं है, फिर भी ये मौन सेवा करते हुए कभी श्रेय लेने हेतु ताली नहीं बजवाना चाहते, मंच पर चढ़ने की आकांक्षा नहीं रखते अपितु सब क्रियाओं का श्रेय हम मनुष्यों को लेने देते हैं।

(ख) आदर्श महापुरुष– चेतन आत्माओं में शबरी, केवट, हनुमान जी आदि के उदाहरण हमारे लिए आदर्श है, लेकिन कुछ लोग रामायण और उसके उच्चादर्श चरित्रों को काल्पनिक मानते हैं, ऐसे जड़ बुद्धि वाले लोग सेवा के आदर्श के रूप में साक्षात् पूज्य आचार्य जी तथा श्रद्धेय स्वामी जी महाराज को देख सकते हैं। आज पतंजलि योगपीठ के माध्यम से जो कुछ भी इस देश और दुनिया में घटित हुआ, उस सब क्रिया मात्र का मूल कारण हैं- पूज्य आचार्य जी व स्वामी जी महाराज की सेवा, तप व पुरुषार्थ, परन्तु सब का मूल कारण होते हुए भी वे सदा श्रेय दूसरों को ही देते हैं। कभी भी हमने उनको कर्तृत्व के अहंकार से युक्त होते नहीं देखा अर्थात् सब कुछ करते हुए भी कुछ भी न करने जैसी विनम्रता इतना अखण्ड-प्रचण्ड पुरुषार्थ करने के बावजूद भी भाग्य या कर्माशय की कोई रेखा उन्होंने अपनी हथेली पर नहीं पड़ने दी। **संसार में सबसे बड़ा सौभाग्यशाली वही है जिसके हाथ में कोई भाग्य की रेखा नहीं है अर्थात् जिसने पुण्यात्मक कर्माशय भी नहीं बनने दिया, अपितु निष्काम सेवा से जीवन्मुक्त पद को प्राप्त किया है। अखण्ड प्रसन्नता,**

विनम्रता व दिव्यता से युक्त उनका जीवन हमारे लिए सेवातत्त्व का उच्च आदर्श है। इसलिए सेवा करते समय शास्त्रादि का ज्ञान ज्यादा ना हो तो भी यदि कोई भाई-बहन पूज्य आचार्य जी व श्रद्धेय स्वामी जी महाराज के आचरण, वाणी, व्यवहार व जीवन को अपने सामने रख लें तो सेवा तत्त्व के कोहिनूर से स्वतः परिचय हो जायेगा।

संगठन की महिमा एवं कार्यपद्धति

संगठन का स्वरूप–

पूज्य स्वामी जी महाराज बार-बार एक बात को कहते हैं कि योग, अध्यात्म एवं सामाजिक जीवन का एक बहुत बड़ा सत्य है कि मनुष्य इस धरती पर भगवान् की सर्वश्रेष्ठ रचना है तथा उसका इस संसार के प्रति सबसे बड़ा उत्तरदायित्व भी है। हमारे अस्तित्व अर्थात् हमारे जन्म से लेकर अन्तिम श्वास मृत्यु तक इस समष्टि समाज या संसार का हम पर बहुत बड़ा उपकार है। अतः एकाङ्गी जीवन व एकाङ्गी दृष्टिकोण यह जीवन के लिए शुभ नहीं होता। स्वयं योग करना तथा कराना, स्वयं पुरुषार्थ व धर्मार्थ साधना व सेवा करना तथा कराना, स्वयं सत्य, धर्म, न्याय, भगवान् व वेद के मार्ग पर चलना तथा औरों को चलाना, स्वयं देशभक्त होना तथा दूसरों को भी राष्ट्रभक्त बनाना, स्वयं स्वदेशी का प्रयोग करना दूसरों को भी स्वदेशी के मार्ग पर लाना यह है- संगठन एवं संगठित जीवन का मूल सिद्धान्त।

संगठन उस शक्ति को कहते है- जिसमें अनेक दिव्य आत्माएँ एक साथ किसी विराट् उद्देश्य की पूर्ति हेतु किसी एक आदर्श व्यक्तित्व के आदेशानुसार अपनी वाणी, व्यवहार, आचरण, क्रियाएं व जीवन की यात्रा को आगे बढ़ाते हैं। ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त 'संगठन सूक्त' भी हमें संगठन की महिमा को बतलाता है। संगठन में भिन्न आत्माएँ होते हुए भी उन सबके विचार, मनन-चिन्तन, सिद्धान्त, चित्त, हृदय तथा लक्ष्य एक समान होते हैं। जिस प्रकार रेलवे स्टेशन पर अनेकों प्लेटफॉर्म होते हैं, अनेकों यात्री होते हैं, पर उनमें से कुछ यात्री

किसी एक विशेष प्लेटफॉर्म पर चुपचाप एकत्रित हो जाते हैं, ये वे यात्री हैं जिनकी यात्रा का लक्ष्य एक ही दिशा में है, उसी दिशा में, उसी ट्रेन से सबको आगे बढ़कर अपने लक्ष्य पर पहुँचना है, इसलिए वे जाति, धर्म, वर्ग, समूह, मजहब, प्रान्त, भाषा, वेशभूषा, मान्यता आदि के सब दृश्य भेदों से ऊपर उठकर एक साथ आनन्द से ट्रेन में यात्रा करते हैं।

संगठन की महिमा–

संगठन का सबसे बड़ा जीवन्त उदाहरण है। हमारे शरीर में करोड़ों सूक्ष्म कोशिकाएँ, उनसे बनने वाले ऊतक, अवयव, कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ एवं अन्तःकरणचतुष्टय। एक छोटे से पिण्ड में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाहित है।

(क) किसी भी बड़ी उपलब्धि का आधार संगठन– व्यक्ति का अपना अस्तित्व, घर, समाज या सम्पूर्ण राष्ट्र एक संगठन का ही स्वरूप है, व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय स्तर की कोई बड़ी उपलब्धि कभी भी संगठन के बिना उपलब्ध नहीं हो सकती है। जैसे व्यक्तिगत बड़ी उपलब्धि हेतु **व्यक्ति को अपने भाव, विचार, वाणी, व्यवहार, क्रिया, शरीर, मन-बुद्धि, इन्द्रियाँ, हृदय व आत्मा को एक ही प्लेटफार्म पर अर्थात् एक ही दिशा में लगाना होता है, यदि ये सब भिन्न-भिन्न दिशाओं में गति करें तो व्यक्तिगत रूप से कोई बड़ी उपलब्धि हासिल नहीं हो सकती है। इसी प्रकार परिवार के सब सदस्यों के एकमत होने से पारिवारिक, समाज व राष्ट्र के किसी लक्ष्य विशेष के हेतु एकजुट होने से, सामाजिक या राष्ट्रीय स्तर पर बड़ी उपलब्धि हो सकती है।** प्रकृति से भी हम संगठन की महिमा को समझ सकते हैं। चींटी या मधुमक्खी यद्यपि छोटा सा प्राणी है, मनुष्य उसकी तुलना में अत्यन्त विराट् है किन्तु वही छोटा सा प्राणी जब संगठन के रूप में संगठित हो जाता है तो बलवान् से बलवान् व्यक्ति भी उनकी शक्ति से डरकर उन्हें कोई क्षति पहुँचाने का दुस्साहस नहीं कर पाता। इसी प्रकार **साधारण से दिखने वाले व्यक्ति भी जब किसी एक प्रबल नेतृत्व के सान्निध्य में एकत्रित हो जाते हैं, तो वे असाधारण कार्य कर दिखाते हैं। पतंजलि योगपीठ इसका साक्षात्**

प्रमाण है। इसी प्रकार कौओं का या बन्दरों का संगठन भी जग विख्यात है।

संगठन में गुरु निर्देश सर्वोपरि–

जो व्यक्ति संगठन की शक्ति व महिमा को पहचानते हैं वे संगठन के निर्देशों का सम्मान, पावन वेदमंत्रों के समान करते हैं। महत्त्वपूर्ण यह नहीं होता कि वह निर्देश किसके माध्यम से मिला, महत्त्वपूर्ण यह है कि– निर्देश मेरे गुरु का है और गुरु इस धरती पर भगवान् का ही सगुण, साकार रूप हैं, इसलिए एक तरह से यह निर्देश मेरे भगवान् का ही है। जो पुत्र अपने माता–पिता से अत्यन्त प्रीति व विश्वास करता है वह उनका पत्र मिलने पर यह ध्यान नहीं देता कि पत्र कौन–सा डाकिया लेकर आया, अपितु उसका ध्यान तो इस पर होता है **कि पत्र में क्या संदेश मेरे लिए आया है।** इसी प्रकार संगठन में भी किसी एक गुरु के निर्देशानुसार सर्वहितकारी किसी बड़े लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सब उसी दिशा में यथाशक्ति पूर्ण पुरुषार्थ करते हैं।

संगठन की कार्य पद्धति–

(क) अनासक्ति का भाव– संगठन में सेवा करने हेतु, संगठन के मूल व्यक्ति के प्रति श्रद्धा, निष्ठा व विश्वास तथा अपने व्यक्तिगत आसक्तियों, आग्रहों व मान्यताओं का त्याग करना होता है। यदि अनासक्ति का भाव नहीं है तो व्यक्ति के माध्यम से कोई बड़ी अभिव्यक्ति नहीं हो पायेगी, संगठन कार्यों की शिथिलता का हेतु देते समय वह अपने ही परिवार की, दुकान की, बिजनेस की, मजबूरी गिनाता रहेगा। आसक्ति के कारण अपने विचारानुकूल 2–4 लोगों के ग्रुप विशेष में ही अटककर रह जायेगा। आसक्ति के कारण दोष होने पर भी अयोग्य व्यक्ति का त्याग और योग्य व्यक्ति का सम्मान या स्वीकार नहीं कर पायेगा। संगठन में सेवा करने के लिए व्यक्ति को मोहन बनना पड़ेगा **अर्थात् मोह+न। मोहन नाम ईश्वर का है।** वह सबसे प्रेम तो करता है। पर मोह नहीं करता इसीलिए सबके साथ न्याय कर पाता है और इतने बड़े सृष्टि रूपी संगठन को कुशलता से चला पाता है।

(ख) हृदय की विशालता– संगठन में सेवा करने के लिए व्यक्ति को गणेश भी बनना पड़ता है अर्थात् **'गणानामीश इति गणेशः'।** गणेश के बड़े कान व बड़ा पेट इस बात का प्रतीक है कि गण के स्वामी को सबकी पूरी बात सुननी चाहिये और सुनकर उसे अपने पेट में डालकर डायजेस्ट भी करना आना चाहिये, अगर ऐसा नहीं होगा तो किसी एक पक्ष की बात सुनकर वैसा आग्रह बनाकर दूसरे के साथ न्याय नहीं कर पायेगा और फलस्वरूप संगठन का विस्तार नहीं ह्रास ही होगा। संगठन में पूज्य आचार्य श्री व श्रद्धेय स्वामी जी महाराज सबसे ज्यादा सेवा निरन्तर करते हैं और उसका श्रेय कभी अपने मुख से स्वयं को नहीं देते सबका सम्मान, सबके साथ प्रेम, सबके साथ निर्वैर तथा निरहङ्कार अवस्था में रहते हुए संगठन के नेतृत्व का आदर्श, हमारे समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। इस प्रकार का सेवानिष्ठ, निष्कपट आचरण करते हुए पिछले लगभग दो दशक में उन्होंने इस विराट् लक्ष्य की यात्रा को वर्तमान पड़ाव तक पहुँचाया है, हम सब उसका शतांश आचरण भी करें तो जीवन में संगठन के माध्यम से काफी बड़ी उपलब्धि को पाया जा सकता है।

युवा अनुशासन–

1. शरीर की स्वस्थता, बुद्धि की प्रखरता व पुरुषार्थ की पराकाष्ठा के द्वारा जीवन में पूर्ण सफलता पानी चाहिए।
2. भगवान् ने बिना किसी भेदभाव व पक्षपात के हम सब मनुष्यों को अनन्त ज्ञान, अखण्डनिष्ठा व प्रचण्ड पुरुषार्थ करने की शक्ति समान रूप से दी हुई है अतः बीज की तरह अपने भीतर विद्यमान इन प्रसुप्त शक्तियों एवं सामर्थ्य को जागृत करके हमें मानव से महामानव बनने के लिए विकल्प रहित संकल्प के साथ अखण्ड-प्रचण्ड पुरुषार्थ करना चाहिए।
3. एक बार भी हमें अनैतिक, अमर्यादित एवं अशोभनीय आचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि एक बार भी हिंसा, झूठ, बेईमानी, भ्रष्टाचार एवं दुराचार आदि करने पर उसकी आदत पड़ जाती है। आदतों या अभ्यास के कारण ही जीवन अच्छा या बुरा होता है।

4. बचपन से ही सेवा करने का स्वभाव, सुबह जल्दी उठना, योग करना, शारीरिक व बौद्धिक रूप से पूर्ण पुरुषार्थ करना, सबसे प्रीति पूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य, न्यायपूर्ण व्यवहार करना, मधुर वाणी में बोलना, बड़ों का सम्मान करना, माता-पिता, गुरुजनों, बड़ों व छोटों का किसी का भी अनादर या अपमान नहीं करना।
5. निंदा, चुगली, नशा, मांसाहार, अश्लीलता एवं कामुकता से दूर रहना। इन्टरनेट, टी.वी., रेडियों या अन्य माध्यमों से बुरी चीजें, बुरे दृश्य देखना तथा सुनना आदि सभी बुरी आदतों से दूर रहना।
6. तात्कालिक रूप से क्षणिक सुख और परिणाम में अनन्त दु:ख देने वाले समस्त प्रलोभनों एवं आकर्षणों से दूर रहकर अपनी शक्ति या ऊर्जा को सदा सकारात्मक, सृजनात्मक एवं उत्पादक महान् कार्यों में लगाना।
7. व्यायाम, खेलकूद, उठने, बैठने, खाने-पीने, पहनने, घूमने, मनोरंजन एवं विशेष अवसरों पर खुशियाँ मनाने के लिए सात्विक उपाय या माध्यमों का ही प्रयोग करना।
8. अपनी मातृभूमि, माता-पिता, गुरुजनों, संगठन, योग एवं अध्यात्म के प्रति अत्यन्त दृढ़ता रखना तथा सबके प्रति उदारता रखना यही सच्ची सात्विक कट्टरता व उदारता है। जो सत्य के प्रति पूर्ण आग्रह नहीं रखता तथा समष्टि के प्रति सहिष्णुता, विश्वबन्धुत्व, सह-अस्तित्व एकत्व एवं प्रेम का भाव नहीं रखता ऐसे व्यक्ति पर दुनियाँ में कोई भी भरोसा या विश्वास नहीं करता तथा वह जीवन में कभी भी सफल व सुखी नहीं हो सकता।
9. बड़ी सोच, कड़ी मेहनत व पक्के इरादे के साथ, किसी का अविवेकपूर्ण विरोध किए बिना अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते रहना चाहिए, एक दिन जीवन में सब प्रकार की सफलता, समृद्धि, सुख, शान्ति व संतुष्टि अवश्य मिलेगी।
10. कभी भी एकाङ्गी दृष्टिकोण नहीं रखना। जीवन के किसी भी पहलू के बारे में टुकड़ों-टुकड़ों में नहीं अपितु सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान,

सफलता, सुख एवं समस्त सम्बन्धों आदि के बारे में पूर्ण विवेक के साथ सम्यक् दृष्टिकोण रखना।

वैयक्तिक, पारिवारिक, व्यावसायिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में हमारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण होना चाहिए। जीवन में सम्यक् दृष्टि एवं सम्यक् आचरण यही जीवन की सबसे बड़ी दो उपलब्धियाँ हैं।

11. विवेकपूर्ण काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं विरोध अपरिहार्य परिस्थितियों में युद्ध भी उचित व आवश्यक हो जाता है।
12. तामसिकता व राजसिकता से दूर रहकर आहार, विचार, व्यवहार, व्यवसाय व स्वभाव आदि में सात्त्विकता पूर्वक जीने का अभ्यास बचपन से ही करना चाहिए।

भक्ति की शक्ति

यह सच है कि आध्यात्मिकता का प्राण है भक्ति, परन्तु भक्ति का ठीक-ठीक स्वरूप न जानने के कारण भक्ति के नाम पर कई बार-भ्रान्ति का भी शिकार भी व्यक्ति हो जाता है। भक्ति, अर्चना, आराधना व उपासना इन शब्दों का अर्थ बहुत नजदीक-नजदीक ही है।

भक्ति का स्वरूप-

संस्कृत में भञ्जो-आमद्रने, तथा भज्-सेवायाम् धातु से भक्ति शब्द की निष्पत्ति होती है। भञ्जो-आमद्रने का अर्थ है- **भञ्यते अहङ्कारो अनया सा भक्तिः।** अर्थात् जिससे हमारा अहंकार टूटकर अपने आराध्य में विलीन हो जाता है वह भक्ति है। या फिर **भज्यते, सेव्यते अनया सा भक्तिः**। जिससे ईश्वर का, गुरु का, दिव्यकर्मों का, उत्तम गुणों का सेवन किया जाता है, वह भक्ति है। भक्ति का अभिप्राय है- पूर्ण समर्पण। भक्ति साधना भी है और साध्य भी है। भक्ति में दो मिलकर एक हो जाते हैं, जैसे नमक और पानी। एक सच्चे भक्त में द्वैत होते हुए भी अद्वैत ही घटित होता है। भक्ति की शुरूआत उपासना, अर्चना व प्रेम से होती है तथा अन्त उसी

प्रकार के आचरण की अभिव्यक्ति से होता है। भक्ति का अभिप्राय है अभिव्यक्ति। यदि हमारी गुरु के प्रति भक्ति है तो गुरु जैसी वाणी, व्यवहार, आचरण, ज्ञान, प्रेम, करुणा, पुरुषार्थ, सिद्धान्त हमारे माध्यम से अभिव्यक्त हों। यह जितने अंश में घटित होता है उतने ही अंश में हमारी भक्ति होती है। ईश्वर भक्त वही है जिसके माध्यम से ईश्वरीय ज्ञान, प्रेम, संवेदनाएं, करुणा, न्याय, सत्य, पुरुषार्थ, सब कुछ करते हुए अकर्तृत्व भाव की अभिव्यक्ति होने लगे। राष्ट्रभक्ति का अभिप्राय है- राष्ट्र को मात्र एक भूमि का टुकड़ा न मानकर- **"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः"।** राष्ट्र को अपनी माँ के समान सम्माननीया मानकर उसकी सेवा करना तथा आवश्यकता पड़े तो अपना सर्वस्व, अपने प्राण बलिदान करने में भी पीछे नहीं हटना। जब हमें आस्तिकता से, सेवा से, दिव्य गुणों से, ईश्वर से, सृष्टि से, समस्त प्राणियों से, न्याय से, सत्य से, करुणा से और स्वयं प्रेम से भी प्रेम हो जाता है, तब भक्ति की शुरुआत होती है। भक्ति तत्त्व यद्यपि अपने मूल में एक ही है तथापि बाह्य दृष्टि से भक्ति के कई रूप दिखाई देते हैं। जैसे ईश्वर भक्ति, गुरुभक्ति, पितृभक्ति व राष्ट्रभक्ति इत्यादि। भक्ति का यह अर्थ कदापि नहीं होता है कि हमने आपके लिए दीपक जला दिया, जलाभिषेक कर दिया, तिलक लगा दिया, प्रसाद बाँट दिया, कावड़ चढ़ा दी, झण्डा चढ़ा दिया, बलि चढ़ा दी, अब आप भी हमारी मनोकामना पूरी करो और यदि आप हमारी इच्छा पूरी नहीं करते हैं तो हम कहीं और प्रयास (ट्राई) करेंगे हमारा आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसमें तो भक्ति की गन्ध भी नहीं है। एक सच्चा भक्त तो सदा यही प्रार्थना करता है कि हे नाथ! जो मैं आप से मांगू वह कदापि मत देना क्योंकि मैं तो अल्पज्ञ हूँ, मेरे लिए जो आप कल्याणकारी समझें वही मुझे देना मैं आपकी भक्ति या सेवा के सिवाय और कुछ भी नहीं चाहता हूँ। भक्ति में तो भक्त अपने-आपका, अपने 'मैं' को मिटा देना चाहता है। ईश्वर भक्त बोलता है-

ओ३म् यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्यामहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥ (ऋग्वेद- 8.44.23)

अर्थात् हे मेरे प्रभु! तुम 'मैं' बन जाओ या मै 'तू' बन जाऊँ अर्थात् मैं अपने अस्तित्व को आप में विलीन करके आपका ही प्रतिनिधि, प्रतिरूप, मूर्त्तरूप, आपके हाथों का एक दिव्ययन्त्र बन जाऊँ। और साथ ही भगवान् की भी यह प्रतिज्ञा है-

ओ३म् यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेतत् सत्यमङ्गिरः।

(ऋग्वेद-1/1/2)

अर्थात् ईश्वर जिसको अपना लेता है, स्वीकार कर लेता है, अङ्गीकार कर लेता है, उसका सर्वदा सर्वत्र कल्याण ही होता है। गीता में भी भगवान् कृष्ण कहते हैं-हे अर्जुन!

मन्मना भव भद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे। (गीता18/65)
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो भद्भक्तः स मे प्रियः। (गीता 12/16)
'न मे भक्तः प्रणश्यति'। (गीता 9.31)

अर्थात् मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता है।

एक सच्चा गुरुभक्त कहता है-हे मेरे गुरुदेव! मेरी इच्छा नहीं अपितु आपकी ही इच्छा पूर्ण हो। क्योंकि अल्पज्ञ होने के कारण मेरी इच्छा दोषपूर्ण हो सकती है लेकिन आप तो साक्षात् उस शाश्वत के ही प्रतिनिधि हैं इसलिए आपकी संकल्पना तो स्वयं ईश्वर की ही संकल्पना होने से दिव्य है। इसलिए वैदिक परम्परा में शिष्य को अन्तेवासी शब्द से सम्बोधित किया गया है अर्थात् गुरु के अन्दर निवास करने वाला अथवा जिसके अन्दर गुरु निवास करता है।

"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः" आचार्य उपनीत ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में धारण करता है गुरु कहता है-

मम व्रते, हृदयं ते दधामि, ममचित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व, बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्"॥

अर्थात् गुरु के व्रत, संकल्प, हृदय, चित्त, वाणी, व्यवहार, आचरण आदि के साथ शिष्य या भक्त तद्रूप हो जाता है। एक राष्ट्रभक्त अपना

सर्वस्व मातृभूमि पर आहुत करके भी सोचता है कि ऐसे सैकड़ों जन्म मुझे मिलें ताकि मैं और भी अपने राष्ट्रदेव की पूजा, अर्चना, व सेवा कर सकूँ। "तेरा वैभव सदा रहे माँ, हम दिन चार रहें न रहें"। श्री अरविन्द कहते थे- "भारत माता मेरे लिए कोई भूमि का टुकड़ा नहीं है, बल्कि मेरी माँ है और उसकी छाती पर बैठकर कोई उसका रक्तपान करे तो भला मैं कैसे मौन रह सकता हूँ। अतः भक्ति का तात्पर्य है कि हम जिसके भक्त होते हैं उसके अस्तित्व के साथ अपने अस्तित्व को सर्वात्मना एकाकार कर दें। यद्यपि भक्ति और समर्पण एक ही दिन में पूर्ण नहीं होते अपितु उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। जिस अनुपात में हमारी भक्ति व समर्पण बढ़ते हैं, उसी अनुपात में दिव्यता का अवतरण भक्त में होता है।

भक्ति का लाभ–

प्रयोजन, लाभ, फायदा या बड़े परिणाम की प्राप्ति के बिना कोई प्राणी पलक भी नहीं झपकता है अतः प्रश्न उठता है कि हर प्राणी अपने ही कर्मों का अच्छा या बुरा फल भोगता है उसमें कोई परिवर्तन होना असम्भव है फिर भक्ति करने से क्या लाभ? सचमुच भक्ति का मतलब है अपने आपको मिटाना लेकिन यह व्यक्ति स्वयं को मिटाकर ही पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है, पूर्णता को प्राप्त कर पाता है- **जैसे बीज मिट्टी में मिलकर वृक्ष के रूप में पूर्णता को प्राप्त कर पाता है। एक ईश्वर भक्त सर्वप्रथम अपने से ऊपर किसी महान् शक्ति के अस्तित्व को प्रामाणिकता से स्वीकार करके अपने जीवन में पूर्णता व दिव्यता को प्राप्त कर लेता है व सच्चा आस्तिक बन जाता है।** आस्तिक का अभिप्राय क्या है? व्यक्ति देखता है मेरे अपने शरीर की रचना तथा उसकी कार्यपद्धति इतनी सूक्ष्म है कि उसे बनाना या चलाना तो दूर की बात उसे समझ पाना भी अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार बाहर के इस संसार की विशालता, नियमितता, सुन्दरता, अनन्तता आदि को देखकर कार्य-कारण के नियम से किसी नियन्ता का अनुमान होता है जो कि इस सृष्टि का कर्ता, नियन्ता, पालनकर्ता फलप्रदाता न्यायकर्मी, दयालु, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् व सर्वव्यापक है, वह बहुत ही महान् है ऐसी

धारणा, विश्वास और निष्ठा जब व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न होती है तब वह उसके प्रति नतमस्तक होकर समर्पण करता है। इस सारी कायनात का जो स्वामी है उसी को वेदों में **"भूः"** स्वरूप कहा है। भूः= प्राणों का भी प्राण, यह तो उपलक्षण है, भूः का पूर्ण अर्थ है इस सम्पूर्ण बाह्य व आन्तरिक सत्ता का स्वामी।

जब कोई अपने से महान् सत्ता है, तो भक्त देखता है कि मुझे कुछ बाह्य, भौतिक दुःख है और कुछ आन्तरिक आध्यात्मिक दुःख हैं तथा ईश्वर 'भुवः' स्वरूप है अर्थात् समस्त दुःखों का नाशक है और केवल दुःख का नाश ही नहीं करता अपितु 'स्वः' सुख स्वरूप भी है। अनन्त आनन्द का, ज्ञान का, प्रेम का, करुणा का व सामर्थ्य का वह स्वामी है। 'तत् सवितुः वरेण्यम्'। तब भक्त को लगता है कि वह समस्त सृष्टि का स्रष्टा, धारण-पोषण कर्ता व नियन्ता, सर्वशक्तिमान् सविता देव ईश्वर ही वरण करने योग है, वर का अर्थ श्रेष्ठ भी होता है। अतः ईश्वर ही सर्वश्रेष्ठ है अतः मैं उसी का वरण करता हूँ, चयन करता हूँ, अपने-आपको सर्वभावेन उसी के चरणों में समर्पित करता हूँ, उसी की आराधना, उपासना सेवा या भक्ति करने का संकल्प लेता हूँ। अतः भक्ति का लाभ है समस्त बाह्य एवं आन्तरिक दुःखों से मुक्ति।

भक्त सब दुःखों से मुक्त होकर एवं भगवान् की समस्त दिव्यताओं से युक्त होकर जीता है तो ईश्वर के उपासक भक्त की बुद्धि सत्य, धर्म, न्याय व पुरुषार्थ के ही मार्ग पर चलती है। एक क्षण के लिए भी ईश्वर भक्त विचलित नहीं होता। महर्षि दयानन्द कहते हैं- एक सच्चा ईश्वर भक्त पहाड़ के समान बड़ा दुःख आने पर भी विचलित नहीं होता। वह वेदानुकूल, शास्त्र, ऋषि आप्त पुरुषों या गुरु के अनुकूल या आत्मानुकूल आचरण करता हुआ आध्यात्मिक दिव्य जीवन जीता है।

भक्ति का सर्वोपरि लाभ-

यह एक सार्वभौमिक सत्य नियम है कि जिसकी हम उपासना करते हैं, जिसका हम सेवन करते हैं, उसके गुणों का प्रभाव हममें अवतरित होने लगता है। जैसे आग के पास बैठने से ऊष्मा, जल के पास बैठने से

शीतलता, सुगन्धित फूल के पास बैठने से सुगन्ध स्वतः ही हमारे अनुभव में आने लगती है, उसी प्रकार **'भर्गो देवस्य धीमहि'** भर्गस्वरूप, ज्योति स्वरूप, प्रकाश स्वरूप, ज्ञानस्वरूप उस देवाधिदेव का भर्ग अर्थात् बुद्धि में ईश्वरीय अनन्त ज्ञान, सत्य, हृदय में ईश्वरीय अनन्त प्रेम, करुणा व दिव्य संवेदनाएँ, वाणी में दिव्य ओज, तेज, हाथों में अनन्त ऊर्जा, सामर्थ्य व पूरे जीवन में ईश्वरीय अलौकिक शक्ति, अखण्ड-प्रचण्ड पुरुषार्थ की क्षमता को यह भक्त सहज रूप में धारण कर पाता है ऐसा भक्त, योगी, ऋषि व उस पराशक्ति का सगुण साकार प्रतिरूप होकर, मूर्तरूप होकर, उस शाश्वत का प्रतिनिधि बनकर इस धरती पर एक दिव्यता का, आध्यात्मिकता का साम्राज्य स्थापित करता है। उसके शरीर के रोम-रोम से दिव्यता प्रवाहित होने लगती है, वह वामन बीज से विराट् वृक्ष बनकर सम्पूर्ण समष्टि को सुखदायी छाँव प्रदान करता है। ऐसी ही महान् आत्माओं के लिए यह कथन किया जाता है- **"संत परमहितकारी जग में, भक्त परम हितकारी"। यही भगवद् भक्ति ध्यान, समाधि या अस्तिकता का सर्वोपरि लाभ है कि मनुष्य मानव शरीर में रहते हुए समस्त प्रकार के शारीरिक रोगों से, सब प्रकार के मन के अज्ञान, अभाव, अन्धकारों से मुक्त होकर अपने जीवन व आचरण के माध्यम से सूर्य की भाँति जगत् में रहते हुए भी जगत् के समस्त दोषों से निर्लिप्त रहकर ईश्वरीय ज्ञान, ईश्वरीय प्रेम व ईश्वरीय सामर्थ्य से युक्त होकर एक दिव्यता का संवाहक बन जाता है।**

इस दिव्य विरासत को पाकर भक्त अहङ्कार नहीं करता अपितु ईश्वर के प्रति अनन्त कृतज्ञता प्रकट करता हुआ प्रार्थना करता है-**"धियो यो नः प्रचोदयात्"** हे नाथ! हे नारायण! यह सब आपका ही है, आपसे ही है। आप ही इस समस्त दिव्य ऐश्वर्य के मालिक हैं, आप मेरी बुद्धि को सदा इस प्रकार का प्रेरणा प्रदान करते रहें कि मैं आपका एक यन्त्र या भक्त बनकर आप ही की सेवा में प्रतिपल समर्पित रहूँ। मैं आपको एक क्षण के लिए भी कभी भूलूं नहीं। आपके उपकारों के प्रति, आपकी कृपा के प्रति सदा कृतज्ञ बना रहूँ। ऐसा भक्त सृष्टि के हर प्राणी में, हर सम्बन्ध में, कण-कण में उसी

ब्रह्म का साक्षात् अनुभव करता हुआ, कृतज्ञता व आनन्द से ओतप्रोत या लबा-लब भरा रहता है। सच्चे भक्त को सबकुछ ब्रह्ममय ही अनुभव होता है। **वासुदेवः सर्वम्, ओ३म् ईशावास्यमिदं सर्वम्, ओ३म्-सर्वं खलु-इदं-ब्रह्म।** सबके मूल में पूर्ण सत्य, पूर्ण सुख, शान्ति समृद्धि व आनन्द का मूलाधार तो एक परमेश्वर ही है।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। (मुण्डक. 2.2.11)

अमृत ब्रह्म ही सामने हैं, ब्रह्म ही पीछे हैं, ब्रह्म ही दक्षिण में है, ब्रह्म ही उत्तर में है, नीचे ब्रह्म है, ऊपर ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण विश्व-संसार में जो-कुछ भी वरिष्ठ हैं, सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म का प्रसार है, उसी विस्तार है।

इस मन्त्र का अर्थ एक भक्त के जीवन में साक्षात् अनुभूत होने लगता है इसके विपरीत जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न करके, नास्तिक बनकर जीवन यापन करता है, वह इस जन्म में अनेक दु:खों का भोक्ता बनकर इस दुर्लभ अवसर मानव जीवन को व्यर्थ ही नष्ट कर लेता है।

नास्तिकता का स्वरूप–

जो व्यक्ति ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता अपने आपको नास्तिक कहता है, उसके जीवन में दोषों का प्रवेश होने से वह स्वयं भी दु:खी होता है और समष्टि में भी दु:ख की ही तरंगों को प्रवाहित करता है। यद्यपि आस्तिक व नास्तिक के भेद को समझना आसान नहीं है। आस्तिक वह नहीं है जो मंदिर, मस्जिद या गुरुद्वारे जाकर कुछ पूजन, अर्चन कर लेता है किन्तु जीवन में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, न्याय, शुचिता, सद्भाव ईमानदारी व प्रेम का आचरण नहीं कर पाता और नास्तिक उस व्यक्ति को नहीं कहेंगे जो एक तथाकथित काल्पनिक साकार पाषण प्रतिमा या देवी देवता को ईश्वर के रूप में नहीं मानता। कभी मंदिर, मस्जिद आदि भी नहीं जाता। धूप, दीप, आदि अर्चन-तर्पण भी नहीं करता किन्तु जीवन में सत्य का पालन करता है, सृष्टि नियमों को स्वीकार करता है, अहिंसा, सत्य, प्रेम, करुणा, आचरण की शुचिता

आदि का पालन करता है तो वास्तव में वह व्यक्ति नास्तिक नहीं अपितु व्यवहार से तो आस्तिक ही है केवल सैद्धान्तिक रूप में ईश्वर के स्वरूप से परिचित नहीं है। सैद्धान्तिक रूप से नास्तिक वह है जो दृष्ट के पीछे अदृष्ट सत्य को नहीं मानता।

नास्तिकता से हानि-

(क) संकीर्णता का दोष– जो व्यक्ति सिद्धांत व आचरण दोनों ही पक्षों में ईश्वर के स्वरूप को नहीं जानता या नहीं मानता उसका ज्ञान, ऐश्वर्य, प्रेम आदि अत्यन्त सीमित हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप वह अत्यन्त संकीर्ण होकर समुद्र में रहकर भी केवल बूँद भर ही ग्रहण कर पाता है।

(ख) अहंकार का दोष– ऐसा व्यक्ति अपने से ऊपर किसी महान् सत्ता को स्वीकार न करने के कारण अहंकार का पात्र बन जाता है और उसका यह बढ़ा हुआ अहंकार ही एक दिन उसके स्वयं के नाश का कारण बन जाता है। दुर्योधन, हिरण्यकश्यपु, कंस, रावण व नहुष आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

(ग) कृतघ्नता का दोष– हमें जो कुछ भी मिला है और विशेष रूप से यह मानव शरीर जो मिला है वह ईश्वर की अहैतुकी कृपा का ही फल है तथा इसके साथ ही सूर्य-चन्द्र, वायु, पृथिवी आदि सृष्टि की समस्त दैवी-शक्तियों की सेवा या सुविधा हमें ईश्वर की अहैतुकी कृपा से ही मिली हैं और जब हम उसके उपकारों को स्वीकार नहीं करते हैं या उसकी आज्ञापालन नहीं करते हैं तो हम कृतघ्नता के दोष से दूषित हो जाते हैं और कृतघ्नता का फल बताते हुए नीतिकार कहते हैं–

नास्तिकः कृतघ्नश्च, यश्च विश्वासघातकः।
ते नराः नरकं यान्ति यावत् चन्द्रदिवाकरौ॥

अर्थात् नास्तिक व्यक्ति, कृतघ्न व्यक्ति तथा विश्वास को तोड़ने वाला ये तीन प्रकार के व्यक्ति तब तक नरक की यातना के भागी बनते हैं जब तक ये सूरज-चांद रहेंगे। अतः हमें भक्ति के यथार्थ स्वरूप को

समझकर ईश्वर की दिव्य शक्तियों का संवाहक, पात्र व भक्त बनने का प्रयास करना चाहिये।

विचार की शक्ति

सृष्टि में कुछ उपहार कुदरत ने केवल मात्र मनुष्य को ही प्रदान किये हैं किसी अन्य प्राणी को नहीं, वे हैं- (1) विचार की शक्ति (2) कर्म की सम्पत्ति (3) सत्संग की शक्ति। इनमें से प्रथम दौलत विचार पर आज विचार करेंगे। हम संसार की समस्त वस्तुओं पर विचार करते हैं परन्तु स्वयं के विचार पर कभी विचार नहीं करते।

आहार व विचार की शुद्धता–

श्रद्धेय स्वामी जी महाराज कहते हैं **"एक क्षण भी अशुद्ध विचार हमारे मन में और एक कण भी अशुद्ध आहार हमारे तन में नहीं जाना चाहिए"।** सचमुच योग साधक के लिए यह एक महामन्त्र है। अशुद्ध आहार हमारे तन को तथा अशुद्ध विचार हमारे मन को रोगी बना देता है। विचार, संसार और मौन (विज्ञानमय कोश) के बीच की कड़ी है। विचार के इस पार है- संसार, भौतिक ज्ञान, अपरा विद्या, भौतिक सुख-समृद्ध, अभ्युदय और उस पार है- आध्यात्मिक विज्ञान, पराविद्या, परम सत्य, परम सुख, शान्ति, आनन्द, परमैश्वर्य, मौन, शून्य, विज्ञानमय लोक, नीरवता, निर्द्वन्द्वता, निष्कामता, निर्विकारता, निर्दोषता इत्यादि। **'अशुद्ध आहार से हमारा स्ट्रक्चर तथा अशुद्ध विचार से हमारा पूरा करैक्टर ही करप्ट हो जाता है'।**

पंचकोषों की पुष्टि तथा समाधि–

शास्त्र में स्थूल शरीर का नाम है- अन्नमय कोष, दूसरा है- प्राणमय कोष, तीसरा है- मनोमय कोष, चौथा है- विज्ञानमय कोष और पाँचवा है- आनन्दमयकोष। अन्नमय कोष शुद्ध अन्न व व्यायाम से पुष्ट होता है दूसरा प्राणमय कोष प्राणायाम से पुष्ट होता है और तीसरा मनोमय या

विचारमय कोष विचारायाम से पुष्ट होता है। विचारायाम का तात्पर्य है–जब केवल अपनी दिव्य चेतना की उपलब्धि हेतु किसी एक सात्त्विक विषय से चित्त की प्रशान्तवाहिता बनी रहती है, इसी अवस्था को योगदर्शन में एकाग्रभूमि कहा है, इसी को चित्तवृत्ति निरोध कहा है अर्थात् 'चित्तवृत्ति निरोधः' की शुरुआत होती है अनावश्यक क्लिष्ट वृत्तियों (विचारों) को हटाना और अक्लिष्ट सात्त्विक विचार को बनाये रखना और जब उसको भी रोक देते हैं तब निर्बीज समाधि की प्राप्ति होती है।

क. विचार चेतना के दो स्तर-निम्न चेतना व उच्च चेतना–

यदि हम विचारायाम करें तो हम जान पायेंगे कि दिन-भर जो विचार हमारे मस्तिष्क में घूमते रहते हैं- उनमें 80% विचार अनावश्यक होते हैं, वे विचार किस प्रकार के हैं यह हमारी चेतना के स्तर का संकेत करते हैं, इस शरीर में बहुत ही सुन्दर व्यवस्था भगवान् ने बनाकर हमें दी है, जिस प्रकार एक मोबाईल में व्यवस्था बनी है कि जब मोबाईल फुल चार्ज होगा तो फ्रन्ट स्क्रीन पर लाइन वाला कॉलम भी फुल होगा, यदि लाइन कॉलम 50% आ गया तो संकेत है बैटरी 50% डिस्चार्ज हो चुकी है, 20% या 10% लाईन कॉलम आ गया तो रेड लाईट आ जाती है जो संकेत करती है कि तुरन्त बैटरी चार्ज की जाये वरना मोबाईल डैड (बन्द) हो सकता है या फिर फट सकता है। इसी प्रकार जब हम निम्न चेतना से युक्त होते हुए कोई कर्म या सेवा करने का हठ करते हैं तब घर, संगठन आदि टूट जाते हैं।

ख. इसी प्रकार की प्रक्रिया (सिस्टम) भगवान् ने हमारे शरीर में भी बनायी हुई है। हमारा शरीर भी संकेत देता है जब अन्दर कोई रोग पैदा हो जाता है, जैसे- बुखार है तो शरीर का गर्म हो जाना, किडनी खराब है तो स्वेलिंग (सूजन) आ जाना, हार्ट-फेफड़ा ठीक नहीं है तो श्वास फूलना, लीवर ठीक नहीं तो भूख न लगना इत्यादि संकेत हैं, इसी प्रकार जब मन में विचार आते हैं कि सब मुझसे नफरत करते हैं, सबको मेरी बुराई ही नजर आती है, घर में, संगठन में, सम्बन्धों में कुछ भी ठीक नहीं

चल रहा है, हमारे भाग्य में तो रोना या कष्ट पाना ही लिखा है या फिर हम किसी की निन्दा चुगली करते हैं इत्यादि। नकारात्मक विचार जब आते हैं तो यह संकेत है कि चेतना का स्तर बहुत नीचे आ गया है, चार्ज करने की आवश्यकता है और जब मन उत्साह से, प्रसन्नता से, आशाओं से, कृतज्ञता से भरा रहता है कुछ बड़ी सेवा करने की उमंग हृदय में हिलोरे ले रही हैं यह संकेत है कि चेतना का स्तर उच्चतम है, कितनी सुन्दर व्यवस्था शरीर के साथ भगवान् ने हमें बनाकर दी है वरना कैसे पता चलता कि अन्दर की स्थिति क्या है? अतः उच्च चेतना, आत्म चेतना, दिव्य चेतना, गुरु या ऋषि चेतना या भागवत चेतना में रहने का ही जीवन का बार-बार अभ्यास करना चाहिए। हमारी सबसे बड़ी प्रेरणा व विचार चेतना यही होनी चाहिए कि हम सुबह उठते ही यह विचार करें कि हम भगवान् के प्रतिनिधि हैं, हम ऋषि-ऋषिकाओं, वीर-वीराङ्गनाओं के प्रतिनिधि, प्रतिरूप, मूर्त्तरूप हैं। हमें भगवान् की या ऋषियों की दिव्य सन्तानों की तरह ही जीना चाहिए। हमारे ज्ञान, निष्ठा, पुरुषार्थ एवं आचरण का स्तर ऋषियों जैसा ही होना चाहिए।

दोषों व दुःख की पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए–

यह भी हमें देखना है कि दोषों व दुःख को कभी पुनरागमन का निमन्त्रण नहीं देना। दोषों की बार-बार आवृत्ति होने से हमारा मनोबल कमजोर पड़ जाता है। इसी बात को योगदर्शन में कहा- "हेयं दुःखमनागतम्।" अर्थात् अभी यदि दुःखी हूँ तो इसको तो मैंने सहन कर ही लिया, परन्तु अगले ही क्षण आने वाले दुःख को मैं अनुमति नहीं देता हूँ अर्थात् दुःख आने पर उसको शान्तिपूर्वक स्वीकार करना तथा उसे आगे आने का आमन्त्रण न देना। मेरे साथ ही ऐसा क्यों होता है? बार-बार किसी दुःख के बारे में सोचने से वह बार-बार आता है। इस ढ़ाँचे को तोड़ना है। कई बार हम अवचेतन मन से अनजाने में ही दोषों का चिन्तन करते हैं तो वैसी ही घटनाएँ बार-बार हमारे जीवन में घटित होने लगती है। इसलिए हमारी दृष्टि सदा प्रकाश की ओर शुभ की ओर लगी होनी चाहिये।

जैसा विचार वैसा संसार–

सूक्ष्म शक्ति विचार, स्थूल शरीर से कई गुणा ज्यादा शक्तिशाली है अणु बम की तरह। यह भी एक अकाट्य सत्य है कि कोई भी स्थूल निर्माण पहले हमारे विचार में आता है। ईश्वर ने जो यह स्थूल संसार बनाया तो पहले विचार किया कि मैं अकेला हूँ क्यों न इस प्रकृति से लोक–लोकान्तरों को रचूँ? और फिर उसके संकल्प मात्र से सृष्टि की रचना हो गई हम अपने घर को बनाते हैं तो पहले उसका नक्शा विचार में बनाते हैं फिर पेपर पर और अन्त में वास्तविक रूप में उसका निर्माण होता है।

क. अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि हम जो भी विचार करते हैं या सपने देखते हैं क्या वे सब पूरे होते हैं? इसका उत्तर है नहीं। शेखचिल्ली वाले सपने या विचार कभी पूरे नहीं होते। जागकर बैठे–बैठे या फिर नींद में जो सपने लिये जाते हैं वो पूरे नहीं होते, सपने तो वे पूरे होते हैं जो सोने ही नहीं देते अर्थात् निरन्तर वही एक धुन। जैसे महर्षि दयानन्द निरन्तर **'ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव'** इस मन्त्र का जप करते रहते थे, क्योंकि उनका सपना था सच्चे शिव की खोज। और सच्चा शिव की प्राप्ति तभी सम्भव है जब हमारा अन्तःकरण सर्वथा निर्मल निष्पाप व पवित्र हो। जैसे स्वामी जी महाराज 24 घण्टे योग, आयुर्वेद व स्वदेशी का ही मन्त्र (चिन्तन) जपते रहते हैं अर्थात् **"तज्जपस्तदर्थभावनम्"** वही विचार, वही भावना, वैसा ही पुरुषार्थ और वैसा ही दृढ़ विश्वास हो तो वह सपना या विचार पूरा होता है। वह विचार फिर चाहे अच्छा हो या बुरा।

ख. कई बार आपने देखा होगा व्यक्ति बोलता है मैंने कहाँ किसी का बुरा किया, मैंने तो बस ऐसा सोचा था, कभी व्यक्ति को लगता है आज मेरे बेटा या बेटी, पत्नी, पति या मित्र ने अचानक मेरा अपमान कर दिया, आज अचानक मुझे ऐसा बोला लेकिन वास्तव में आप गौर करेंगे तो यह सब अचानक नहीं हुआ इस व्यक्ति के प्रति कई दिन से विचार में यह नकारात्मक या सकारात्मक चिन्तन चल रहा था जो आज वाणी या व्यवहार के माध्यम से प्रकट हो गया।

ग. विचार करते समय हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हम अपने किसी एक अच्छे विचार को किसी दूसरे विपरीत विचार से स्वयं की काट देते हैं। उदाहरण के लिए हमने विचार किया कि हे भगवन्! मेरे घर-परिवार संगठन में सदा शान्ति, सुख, प्रेम भाव बना रहे। कुदरत ने कहा-तथास्तु। फिर अगले ही दिन कहा- मैं चाहे कितना भी अच्छा क्यों ना सोच लूँ- ये मेरी सास, या बहू या पति-पत्नी, ये तो सुधरने के नहीं, कुदरत ने कहा-तथास्तु। हमने स्वयं ही अपने पहले विचार को काट दिया। इसलिए घर में, संगठन में माहौल रहता है-कभी खुशी, कभी गम। यह भी हो सकता था कि सदा ही खुशी और कभी अत्यन्त खुशी।

घ. कभी-कभी व्यक्ति को शुभ कर्म या सेवा करते हुए भी यह विचार परेशान कर देता है कि मेरी सेवा का श्रेय (क्रेडिट) किसी और को मिल रहा है मंच पर मेरा नाम आना चाहिये था किसी और का आ गया, ये सम्मान, प्रेम तो मुझे मिलना चाहिये था, किसी और को मिल गया उस समय हमें यह विचार करना चाहिये कि कोई बात नहीं आज भले ही श्रेय नहीं मिला, आज मेरे नाम का पार्सल भले गलती से किसी और के घर चला गया, मगर वो लौटकर आयेगा मेरे पास ही क्योंकि उस पर मेरा नाम लिखा है, मेरे कर्म का फल कदापि किसी और को मिल ही नहीं सकता और जो मेरा नहीं है वह कदापि मुझे नहीं मिलेगा चाहे मैं लाख सर पटक लूँ। जब इतनी अटल कर्मफल व्यवस्था भगवान् की है तो मैं दु:खी क्यों होऊँ?

ङ. कई बार हमें लगता है यह व्यक्ति तो बदल गया, परन्तु व्यक्ति (आत्मा) कदापि नहीं बदलता जो आप बचपन में थे वही आप तो आज भी हैं, फिर लगता है व्यक्ति तो वही है पर इसका मन बदल गया, लेकिन मन भी सृष्टि के आदि में जो मिल गया सृष्टि के अन्त तक वही मन रहेगा। तो फिर बदलता क्या है? बदलता है व्यक्ति का विचार और आचरण। इसलिए विचार हमारी बहुत बड़ी सम्पत्ति भी है और शक्ति भी।

च. अब इन विचारों पर यह विचार उठता है कि ये विचार उठते क्यों हैं? क्यों ये विचार आकाश में बादलों की तरह हमारे मन में इधर-उधर घूमते

रहते हैं? इसका प्रथम कारण तो यह है कि हम प्रमाद में होते हैं। अपने घर का दरवाजा सदा खुला रखेंगे तो कोई भी चोर-उचक्का, कुत्ता, बिल्ली साँप, बिच्छू, छिपकली आदि अन्दर घुसेगा ही। इसलिए अपने द्वार पर सजगता की जाली लगाकर रखें ताकि आवश्यक वायु अन्दर आ जावें और अनावश्यक पदार्थ बाहर ही रह जावें। दूसरा कारण है मानव जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य न समझना या कोई बड़ा लक्ष्य जीवन में न बनाना। यदि जीवन का लक्ष्य घर, परिवार, थोड़े से सम्बन्धी व्यक्तिगत सुख, सम्मान सम्पत्ति इतना ही बनाया है तो समझ लीजिये कि आप हीरे-मोतियों के बड़े व्यापारी होकर भी, बीड़ी-माचिस की दुकान खोलकर बैठे हैं और आने वाले दु:ख को स्वयं ही आमन्त्रण दे रहे हैं क्योंकि केवल अपने ही सुख के बारे में सोचना दु:खी होने का अचूक उपाय है इसलिए निरन्तर चित्त के सामने एक बड़ा लक्ष्य बनाकर रखें तब आप सहज अपने और दूसरों के छोटे-मोटे अपराधों, त्रुटियों व गलतियों को माफ करते हुए आगे ही बढ़ते जायेंगे।

विचारों का तूफान उठने का एक कारण यह भी है कि हमारी नानाबिध अनेक अविवेकपूर्ण कामनाएँ। जिस अंश में हमारी अविवेकपूर्ण कामनाएँ न्यून होती चली जायेगीं, उसी अंश में हमारे विचारों के प्रवाह में भी शिथिलता आयेगी। जब सभी अज्ञानमूलक कामनाएँ समाप्त हो जायेगीं तो चित्त पूर्णत: निर्विचार हो जाता है।

"निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद:" (योगदर्शन-1.47)

निर्विचार स्थिति की विशारदा अर्थात् निर्मलता होने पर जो शान्ति प्राप्त होती है उसी को योगदर्शन में अध्यात्म प्रसाद कहा गया है।

पुनर्जन्म तक विचार का प्रभाव-

शरीर में यदि आहार का कोई कण गलत चला गया तो वह शरीर को रोगी बनाकर या मृत्यु देकर केवल इसी जन्म में दु:ख देगा, मगर यदि गलत विचार से मन को रोगी बना लिया तो रोगी मन अगले जन्म में और जन्म-जन्मान्तरों तक दु:ख एवं दु:खमय संस्कार देगा। इसलिए हमें इस मन रूपी मशीन का सही सदुपयोग करना चाहिये। क्योंकि यह मन तो

विचार करने की एक मशीन है जैसे जूस निकालने वाली मशीन में गन्ना डालें तो मीठा जूस निकलेगा, नीम के पत्ते डालें तो कड़वा जूस निकलेगा। इसी प्रकार यह मन रूपी मशीन तो सृष्टि के अन्त तक चलती ही रहेगी, योगी जन इससे मन्त्रों का रस निकालते हैं, सत्चिन्तन, सत्संग सद्भाव का अमृत रस निकालते हैं, अज्ञानी इसमें गलत विचार डालकर दुःख और मृत्यु रूपी कड़वा रस निकालते हैं और कुछ नादान इसे अवारा छोड़कर जो भी अच्छा-बुरा आ जाये बिना रोके टोके सब इसमें घुसने देते हैं। यदि बहुत ज्यादा समझ में न आये तो दूसरा सरल तरीका यह है कि जिस चिन्तन या विचार से हमारे मन को प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती अपितु दुःख, निराशा या बुरा महसूस होता है समझ लीजिये हम उस समय अपने केन्द्र से कट गये, हट गये या टूट गये। यह विचार हमारे लिए हितकर नहीं है बस वहीं उसको रोकना है।

विचार का ऐश्वर्य–

अब अन्तिम बात है कि इस दिव्य विचार रूपी ऐश्वर्य या दौलत का हम सदुपयोग कैसे करें? दिन में एक-दो घण्टे के बाद या जब भी हमें याद आये, हम गौर करें कि इस समय मेरे मन में कौन सा विचार चल रहा है? क्या इसकी आवश्यकता है? क्या यह मेरे जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जाने में सहायक है? यह चेतना के किस लेवल का संकेत कर रहा है? इतने ही प्रयास से 70% वृत्ति निरोध या अनावश्यक विचारों को रोकने में सफलता मिलेगी उसके बाद विचार करें, हे भगवान्! इस समय जो कार्य मेरे हाथ में है, इसे मैं अच्छे से अच्छा कर सकूँ। इस समय जो मनुष्य मेरे सामने है, उसके साथ अच्छे से अच्छा व्यवहार कर सकूँ वह चाहे अपना ड्राईवर या घर का नौकर ही क्यों ना हो।

आत्मनिरीक्षण–

इस संसार रूपी रंगमंच पर भगवान् के जजमैन्ट में आज का मेरा अभिनय कैसा रहा? आज के वाणी, व्यवहार व आचरण के लिए मैं स्वयं को कितने अंक देता हूँ? उसके पश्चात् विचार करें हे भगवान्! मेरे

माध्यम से आपकी जितनी दिव्यता प्रवाहित होना सम्भव है उतनी दिव्यता मेरे माध्यम से प्रकट हो। जितना सत्य, प्रेम, करुणा, पवित्रता, ज्ञान, सेवा, उपकार, एक मानव के माध्यम से प्रकट होना सम्भव है वह सब आपका ऐश्वर्य प्रकट करने में मेरा यह शरीर आपका एक यन्त्र बने, खिलौना बने, माध्यम बने, क्योंकि 250 वॉल्टेज पॉवर की वायर (डोरी) में 2500 वोल्टेज विद्युत पॉवर कभी प्रवाहित नहीं हो सकती। अतः हे प्रभु! आपका ज्ञान, सत्य, प्रेम, करुणा, दिव्यता, ऐश्वर्य तो अनन्त है उस अनन्त में से मेरे माध्यम से जितना सम्भव हो सके वह प्रकट हो। मुझे छोटा सा दिव्य पवित्र यन्त्र बना लीजिये ताकि आपके इस दिव्य नाटक में मैं भी अपनी छोटी सी भूमिका अदा करके आपकी चरण-शरण का दास बन सकूँ, पात्र बन सकूँ। इस प्रकार का विचार या चिन्तन करना ही इस दिव्य उपहार का सच्चा प्रयोग करना है।

धर्म का मर्म

संसार में विज्ञान (Science) या गणित (Maths) के फार्मूलों में किसी का मतभेद नहीं है। सभी मानते हैं कि 2 और 2, चार ही होते हैं। H_2O अर्थात् दो गुणा हाइड्रोजन तथा एक गुणा ऑक्सीजन मिलाकर पानी ही बनता है यह भी सर्वमान्य है, क्योंकि ये दृष्ट सत्य हैं लेकिन अदृष्ट सत्यों को लेकर दुनियाँ में बहुत भ्रान्तियाँ हैं और खासकर धर्म के नाम पर। धर्म का ठीक-ठीक बोध न होने के कारण संसार में बहुत संघर्ष है। वेद में, कुरान में, बाइबल में या गुरुग्रन्थ साहिब में क्या लिखा है, यह ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं, अपितु वेद, कुरान, बाइबल आदि को मानने वाले लोग कैसे जीते हैं, यह महत्त्वपूर्ण है।

धार्मिक लोगों का जीवन व आचरण कैसा है यह लोग देखना चाहते हैं। एक भगवान् का विधान है जो वेदादि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है दूसरा संसार का विधान है जो संविधान में उपलब्ध होता है, दोनों ही प्रकार के विधान का पालन करना ही, ईश्वर की आज्ञापालन करना है। भगवान् का स्वरूप क्या है? सत्य, न्याय, प्रेम, सद्भाव, नैतिकता, अहिंसा ये सब

भगवान् के ही रूप हैं। परमात्मा है इसका क्या प्रमाण है? निकट से देखें तो मेरा स्वयं का होना अर्थात् शरीर में हॉर्ट, लीवर आदि अंग-प्रत्यंगों का अहर्निश क्रिया करना तथा रस रक्तादि धातुओं का निर्माण, माँ के गर्भ में शिशु का निर्माण आदि प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

और यदि बाहर देखें तो इस विशाल ब्रह्माण्ड की रचना जिसे बनाना तो दूर देखकर समझ पाना भी नामुमकिन है यह ईश्वर के होने का दृष्ट प्रमाण है। भगवान् का दर्शन क्या है? अपनी अन्तरात्मा में परमात्मा की प्रेरणा को अनुभव कर लेना ही उसका आन्तरिक दर्शन करना है। दूसरा इस बाह्य जगत् में सर्वत्र उसकी कृति में उस कर्ता का अनुभव करना यह बाह्य दर्शन है। भगवान् का दर्शन हो गया इसका क्या प्रमाण है? यदि किसी व्यक्ति के जीवन में बाह्य या आन्तरिक स्थायी ऐश्वर्य की उपलब्धि दिखाई दे तो, उसने ईश्वर की कृपा को प्राप्त किया है यह इसका प्रमाण है तथा इसके अतिरिक्त यदि उसके जीवन में दिव्य ज्ञान, दिव्य प्रेम, अखण्ड निष्ठा व प्रचण्ड पुरुषार्थ दिखाई दें तो यह प्रमाणित करता है कि उसने ईश्वर का दर्शन किया है। त्रयी विद्या वेदों में दिव्य ज्ञान को ही ज्ञान योग (शुद्ध ज्ञान), दिव्य प्रेम व अखण्ड निष्ठा को ही भक्ति योग (शुद्ध उपासना) तथा प्रचण्ड पुरुषार्थ को ही-कर्मयोग (शुद्ध कर्म) कहा गया है। भगवान् कहाँ रहते हैं? भगवान् सदा सब प्राणियों को सर्वत्र प्राप्त हैं- 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' 'वासुदेवः सर्वम्' 'सिया राममय सब जग जानी'। यदि वह सर्वत्र उपलब्ध है तो हम उसे प्राप्त क्यों नहीं कर पाते? दोषपूर्ण अन्तःकरण से उसे नहीं पाया जा सकता। धर्म क्या है? यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' जिससे अभ्युदय व निःश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है। अभ्युदय क्या है? समग्र, अर्थात् शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक दृष्टिकोण से मनुष्य व मनुष्येत्तर सबका विकास, यह है समग्र विकास। **अतः समग्र, स्थायी, विकेन्द्रित, न्यायपूर्ण सात्विक समृद्धि ही अभ्युदय सच्ची समृद्धि या सच्चा विकास है।** निःश्रेयस क्या है? निः=निशेष रूप से, श्रेयस=कल्याणकारी अर्थात् सम्पूर्ण रूप से जो शुभ या कल्याणकारी है

अर्थात् योग, अध्यात्म व ध्यानादि के माध्यम से ज्ञान का प्रकाश पहले बुद्धि में हो जाये और फिर वह जीवन के आचरण में उतर जाये यही नि:श्रेयस है। धर्म का ठीक-ठीक बोध न होने से संसार में बहुत प्रकार का दु:ख, टकराव व संघर्ष है। स्वयं में तथा समष्टि में पूर्णता अनुभव करते हुए पूर्ण कृतज्ञता पूर्वक पूर्णज्ञान, पूर्ण निष्ठा व पूर्ण पुरुषार्थ के साथ अपने समस्त कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हुए अपना व सबका अभ्युदय व नि:श्रेयस सिद्ध करना यही धर्म है, यही दिव्य जीवन एवं योग का लक्षण हैं। जो स्वयं तथा समष्टि में पूर्णता व दिव्यता का अनुभव नहीं करते वे स्वयं में एक अपूर्णता, अधूरापन, खालीपन या सूनापन अनुभव करते हैं और केवल बाहर की सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान, सफलता, समृद्धि एवं केवल बाह्य सम्बन्धों से उस अधूरेपन को भरना चाहते हैं या पूरा होना चाहते हैं। केवल बाह्य ऐश्वर्य से पूर्णता व पूर्ण सुख शान्ति सन्तुष्टि या तृप्ति मिल ही नहीं सकती अत: अशान्त व दु:खी होकर जीते रहते है। इसलिए जीवन व जगत् के प्रत्येक पहलू के सन्दर्भ में एक विवेक पूर्ण व समग्र दृष्टि हमें रखनी चाहिए और वैसा ही आचरण करना चाहिए इसी में सच्ची समृद्धि, सच्ची सफलता व समाधि की प्राप्ति ही सच्ची आध्यात्मिकता है। केवल सफलता या केवल समाधि जैसी भ्रान्त मान्यता हमें जीवन में नहीं पालनी चाहिए। वेद का विधान एवं यह सृष्टि का एक अकाट्य वैज्ञानिक सत्य है कि भौतिक समृद्धि से हम संसार के दु:खों, अभावों, भूख, भय, दरिद्रता, रोगों, युद्धों, संघर्षों एवं प्रतिकूलताओं पर विजय प्राप्त करते हैं तथा आध्यात्मिक उन्नति से भीतर के दु:खों अन्तर्द्वन्द्वों, पराधीनताओं, दुर्बलताओं, अज्ञान, भय, अशुभ व अज्ञानजनित दोषों, दोषपूर्ण प्रवृत्तिओं एवं उन दोषपूर्ण प्रवृत्तिओं के परिणाम स्वरूप मिलने वाले जन्म-मरण व अन्य समस्त दु:खों से व्यक्ति जीते जी ही मुक्त हो जाता है।

दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरो-
त्तराऽपाये तदनन्तरापायादपवर्ग:।। (न्याय.-1/2)

[दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम्] दु:ख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान के [उत्तरोत्तराऽपाये] उत्तर-उत्तर के, अर्थात् अगले-अगले के

नष्ट हो जाने पर [तदनन्तरापायात्] उसके अनन्तर के अर्थात् अव्यवहित पूर्व के नाश हो जाने से [अपवर्गः] मोक्ष होता है।
यही जीवन मुक्ति, मोक्ष की प्राप्ति, निर्वाण, निःश्रेयस या कैवल्य की प्राप्ति है और यही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। यजुर्वेद व ईशोपनिषद् में भी इसी को अविद्या-विद्या, अपराविद्या-पराविद्या, विनाश एवं संभूति के द्वारा दुःखों या मृत्यु पर विजय प्राप्त करके अमृत की प्राप्ति का उपदेश दिया है।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते । (ईशो.- /11)

'अविद्या' अर्थात् भौतिक-विज्ञान (Science) से 'मृत्यु' लाने वाले प्रवाहों को तर जाते हैं, और 'विद्या', अर्थात् अध्यात्म-ज्ञान से 'अमृत' को चखते हैं। अतः धर्म के यथार्थ स्वरूप को जानकर मनुष्य की ऊर्जा को योग व कर्मयोग के माध्यम से नकारात्मकता से हटाकर सकारात्मक कार्यों में लगाना तथा योग, आयुर्वेद व स्वदेशी के माध्यम से आचरण की दिव्यता व श्रेष्ठता वाले नागरिक तैयार करना, जिनका जीवन दिव्यता का एक दृष्टान्त बन सके, क्योंकि गुण या दोष देखा-देखी बढ़ जाते हैं। देश में देखा-देखी योग व दिव्यता बढ़े तथा योग व कर्मयोग हमारे जीवन का ध्येय बन जाये, यही हमारा लक्ष्य है।

मुक्ति का व्यावहारिक दर्शन व सिद्धान्त (मुक्ति के तीन साधन)

दिव्य जीवन जीने के तीन सोपान, साधन या उपाय हैं। योगी को जीवन में तीन सबसे बड़े कार्य करने होते हैं। एक आसन व व्यायाम से शरीर की शुद्धि तथा प्राणायाम व ध्यान से अन्तःकरण या चित्त की शुद्धि एवं अष्टांग योग के अन्तर्गत यम-नियमों के पालन से आचरण की शुद्धि। जब मनुष्य की ये तीन प्रकार की शुद्धि हो जाती हैं तो वह मनुष्य देवता, ऋषि, महामानव या महापुरुष बन जाता है। उसका जीवन दिव्य जीवन बन जाता है अर्थात् शारीरिक दुःख, मानसिक दुःख, तनाव, उदासी, परेशानी आदि तथा जीवन में आचरण स्वभाव आदि के दोष स्वरूप दूसरों

से मिलने वाले समस्त दुःखों का नितान्त अभाव, सभी प्रकार के अज्ञान, अभाव, दुःख, शोक आदि से मुक्त जीवन हो जाता है और यही वास्तविक जीवन्-मुक्ति है। यही मुक्ति का मूल सिद्धान्त है। जो व्यक्ति इस जीवन को फूलों की तरह खिलता हुआ, हँसता हुआ, सुगन्धित (अपने सुकर्मों की गन्ध से) जीवन जीता है यही जीवन्-मुक्त योगी का लक्षण है तथा वह निश्चित रूप से मरने के बाद भी मुक्त ही होता है किन्तु जो यहाँ दुःख से मुक्त नहीं हो पाया वह मृत्यु के बाद मोक्ष को प्राप्त कर पायेगा, यह कहा नहीं जा सकता।

1. आसन व व्यायाम–

चिकित्सा विज्ञान के अब तक के अनुसंधान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कम से कम प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को भी प्रतिदिन 20 से 30 मिनट आसन व व्यायाम अवश्य करना चाहिये, जिससे कि रोग, बुढ़ापा, दुःख, तनाव व तनावजनित रोगादि से सर्वथा मुक्त रह सके।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ (गीता 6/7)

अर्थात् जिसका आहार, व्यवहार, समस्त चेष्टाएँ या क्रियाएँ, निद्रा व जागरण सब युक्त हैं, उचित हैं, सन्तुलित हैं, उसके लिए यह योग दुःख का नाशक बन जाता है।

कोई कितना ही बड़ा महापुरुष, योगी, तपस्वी क्यों न हो यदि वह आसन, व्यायाम या आहार आदि की अवहेलना करेगा तो शारीरिक कष्टों से मुक्त हो ही नहीं सकता, इस यथार्थ को झुठलाया नहीं जा सकता। अनेकों महापुरुषों का जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है जो आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत ऊँचा जीवन जीते हुए भी आसन, व्यायाम आदि के अभाव में सामान्य रोगों से लेकर कैन्सर आदि बड़े रोगों से उन्हें पीड़ित होना ही पड़ा।

2. प्राणायामपूर्वक ध्यान–

प्रतिदिन कम से कम आधा घण्टा प्राणायामपूर्वक ध्यान करने से अन्तःकरण की शुद्धि होकर समाधि की प्राप्ति होती है। प्रातःकाल योग

ध्यान से दिनभर ध्यानपूर्वक जीने का अभ्यास हो जाता है। ध्यान पूर्वक विचारने, देखने, सुनने, बोलने, खाने-पीने व जीने का अभ्यास तथा सब ज्ञान, प्रेम, प्रेरणा, शक्ति-सामर्थ्य, सुख, समृद्धि व संसार का मूल स्त्रोत भगवान् ही है। यह ध्यान दिनभर बना रहता है। इसी को गीता में कहा है- **नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा''।** अर्थात् अपने यथार्थ स्वरूप को बोध दिनभर बने रहना यह सहज ध्यान है। प्राणायाम का फल बताते हुए योगदर्शन में लिखा है-

'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् (योग-2/52)

'प्राणो ब्रह्मेति' (उपनिषद्) अर्थात् जो संस्कार हमने क्रियायोग से तनु किये थे, वे ध्यान से समूल नष्ट हो जाते हैं।

'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः' (योग 1/28)

अर्थात् प्राणायामपूर्वक ध्यान से चित्त की अशुद्धि का क्षय होने पर ज्ञान का प्रकाश बढ़ता ही रहता है जब तक कि पूर्ण विवेक प्राप्त न हो जाये।

प्राणायाम व ध्यान के अभ्यास के बिना किसी को भी इन्द्रिय व अन्तःकरण की शुद्धि, मन पर विजय, चित्तवृत्तियों का निरोध, आत्मबोध व परमात्मतत्व का बोध हो ही नहीं सकता।

3. अष्टांगयोग के अन्तर्गत यम-नियमों का पालन-

यम-नियमों का पालन करने से आत्मिक शुद्धि होती है। शुद्ध आत्मा का अन्तिम सत्य है आचरण की पवित्रता। **'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।** (ऋग्वेद) अर्थात् आचरण से हीन व्यक्ति को तो वेद की ऋचाएँ भी पवित्र नहीं कर पाती हैं। आचरण की पवित्रता ही मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ है। **'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।' स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥** (गीता 18/46) अर्थात् जिससे सभी प्राणी जन्म लेते हैं, जिससे यह सारा जगत व्याप्त है, उस परमात्मा की अपने कर्म से पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

'पवित्रेण शतायुषा' (यजुर्वेद-19.37) अर्थात् मैं पवित्रता पूर्वक जीते हुए सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करूँ।

स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ (गीता 18/45)

अपने-अपने स्वकर्म में जो व्यक्ति लगा रहता है वह सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

अतः योगी आसन, व्यायाम, प्राणायाम, ध्यान व यम-नियमों का सतत पालन करते हुए अपने आचरण की दिव्यता व पवित्रता से स्वयं आनन्दित रहता हुआ सर्वजगतहितकारी बन जाता है। **यम-नियमों के पालन के बिना योगी होना तो बहुत ऊँची व बहुत दूर की बात है एक अच्छा इन्सान, अच्छे माता, पिता, गुरु, शिष्य, अच्छा किसान, व्यापारी, नेता, अभिनेता व एक आदर्श-सभ्य नागरिक भी नहीं बन सकता है। यदि कोई व्यक्ति यम-नियमों के पालन के बिना अध्यात्म की बात करता है तो वह कोरा पाखण्ड ही है क्योंकि पूरा यम-नियम ही अध्यात्म की आधारशिला है। अध्यात्म के मूल सिद्धान्त, रीति, नीति व अध्यात्म का पूरा दर्शन यम-नियमों पर ही टिका हुआ है।**

मूल्य : ₹12/-

पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार

वस्तुत जानकारी व आन्दोलन से जुड़ने के लिए सम्पर्क करे :
केन्द्रीय कार्यालय, भारत स्वाभिमान (न्यास), राजीव दीक्षित भवन, पतंजलि योगपीठ,
महर्षि दयानन्द ग्राम, निकट बहादराबाद, हरिद्वार-249405, उत्तराखण्ड (भारत)

www.facebook.com/swami.ramdev, AcharyaBalkrishanJi को Like करें तथा **Blog:** www.swami-ramdev.com को निरन्तर पढें।
www.twitter.com/bst_official, www.twitter.com/yogrishiramdev, Ach_Balkrishna को Follow करें।
E-mail : bharatswabhimanheadoffice@gmail.com, **Web :** www.bharatswabhimantrust.org
Phone : 01334-240008, 273000, 248888, 244107, 246737 Fax : 01334-240664